क्रम | पृष्ठ

# अलग-थलग जिन्दगी

गंगानगर से जयपुर के लिए जब बस से चलते हैं तो हनुमानगढ से आगे स्पष्ट होने लगता है कि आगे कोई पिछड़ा इलाका आने वाला है। लेकिन तभी आती है संसार की सबसे बड़ी नहर राजस्थान केनाल और एक बार फिर चारों ओर हरियाली नजर आती है। पर यह हरियाली ज्यादा दूर तक नहीं है। बस ज्योंही रावतसर कस्बे से आगे निकलती है तो नजर आने लगता है रेत के धोरों का अनन्त विस्तार। रावतसर से लगभग मील भर की दूरी पर पानी का एक पतला सा नाला कुछ हरियाली पैदा करने की असफल सी कोशिश करता नजर आता है। लेकिन अधिकतर लोगों के खेत बिरानी हैं। वर्षा होती है तो कभी-कभार इन खेतों में हरियाली नजर आती है। नहीं तो सब ओर रेत ही रेत होती है। इन खेतों में डचाब और झाड़-झंखाड़ की अधिकता इतनी होती है कि समा लगा हो तो फसल भी दिखाई नहीं देती। मन बीघे से ज्यादा शायद ही पैदा हो पाता हो इन खेतों में। हां, वैसे यह डचाब और झाड़-झखाड़ पशुओं के चरने के खूब काम आता है। इसलिए पशुधन इधर कुछ ठीक ही है। अब लोग हाड़ी की फसल भी बोने लगे हैं और उसके लिए जमीन [illegible] लगे हैं। भूमि को जोत-जोत कर डचाब और [illegible] गे हैं।

[illegible] पर बसों पर चढ़ने उतरने वाले लोगों को [illegible] झांकी जा सकती है। गंगानगर [illegible] र आते होंगे। इसी नवम्बर

माह में मेरा इधर आना हुआ था। बस में एक जयपुर जाने वाले परिवार के बच्चे और सदस्य गर्म कपड़ों के बोझ से लदपद थे। और इधर के एक परिवार के बच्चों के गले में पूरी कमीजें भी नहीं थी।

इधर कई गावों से भाटा (चूना) भी निकलता है। लेकिन उसका लोगों के जीवन स्तर पर कोई प्रभाव नहीं है। खानों में सरकारी आदमी होते हैं। ट्रक आते हैं और भर कर चले जाते हैं। प्रभाव पड़े भी कैसे?

पल्लू से दो मील दूर मेरा पुश्तैनी गाव है दनियासर। कभी-कभार चाचा जी से मिलने जाना होता है। पल्लू अड्डे से उतर कर चल पड़ा हू। पहले पगडण्डी की लकीर होती थी। अब ऊंट गाड़ियां चलने लगी हैं तो दो लकीरें पड़ गयी हैं। अब इधर-उधर भटक जाने का खतरा नही रहा। बस, इतनी सी प्रगति हुई है।

एक एक धोरे को पार करता हुआ चल रहा हू। पांव रेत में धंसे जा रहे हैं। पहली बार चलना मुश्किल लग रहा है। सांस कुछ मुश्किल से आ रहा है। लेकिन चलने के सिवाय कोई चारा नहीं। इसलिए चल रहा हूं। थोडे दिन पहले इधर अच्छी वर्षा हुई थी। देख रहा हूं सब लोगों ने बुवाई कर दी है। कुछ अभी भी कर रहे हैं। ढचाब में भी हल चला दिया गया है।

पिछले तीन सालों में इधर नाम मात्र का ही अन्न पैदा हुआ है। सबसे बड़ी ट्रैजडी तो इन लोगों के साथ यह होती है कि बुवाई के वक्त बीज तो इनका खर्च करवा दिया जाता है। लोग दुगने भाव उधार लेकर बीजते है। लेकिन काटने के वक्त बीज भी नहीं मुडता। पिछली सावणी की फसल की बुवाई लोगों ने बड़े तंग हो कर, तीन-चार सौ रुपये क्विटल के भाव बीज और सौ डेढ़ सौ रुपए क्विटल के भाव ऊंटों के लिए नीरा खरीद कर की थी। लेकिन वह सब चौपट हो गयी। बुवाई के वक्त वर्षा हो गयी तो क्या? बाद में सब सूख गयी।

मंहगाई की मार तो यहां बेहिसाब है। हनुमानगढ़, रावतसर या सरदार शहर यहां से कोई ज्यादा दूर नहीं। लेकिन यहां से यहां चीजों

एक सादा जिन्दगी है। सरकार यहां कोई उद्योग धंधा ही स्थापित कर दे तो भी इन लोगों की बदहाली कुछ मिट सकती है।

दनियागर में पंचायत समिति का प्राइमरी स्कूल है। लेकिन बच्चे पढ़ते ही नहीं। शायद गांव भर से पन्द्रह-बीस बच्चे जाते हैं। अध्यापक भी कभी स्कूल में रहता है, कभी नहीं। बच्चे तो सुबह सुबह ही पशुओं के पीछे निकल पड़ते हैं। मैं अभी निपटने के लिए ही बाहर निकला हूं और छोटे छोटे बच्चे पशुओं को लिए खेतों की ओर जा रहे हैं। दिन अभी पूरा निकला नहीं है। पाले से ठिठुरते हुए, एक बिना बटनों की कमीज में भी चला जा रहा है। मेरे शरीर पर तीन-चार कपड़े पड़े हुए हैं। मैं सोचता हूं—सचमुच ही ये लोग गरीब हमारी वजह से ही हैं। अंतर्राष्ट्रीय गैर बराबरी मिटाने की बातें की जाती हैं, लेकिन एक ही देश के स्थान-स्थान की गैर बराबरी मिटाने की बातें क्यों नहीं चलाई जाती?

दूसरे दिन पल्लू अड्डे पर जाता हूं। रास्ते में एक आदमी फर्क बताता है कि यहां के आदमी में और उधर के आदमी में बहुत फर्क है। उधर का आदमी खर्च करते हुए तनिक भी नहीं झिझकता। अच्छा खाता पीता है और पहनता है। इधर जिसके पास कुछ होता है, वह भी पूरा खाता पीता नहीं। और न अच्छा पहनता है। वह भी जितना पास है उसमें दो पैसे और मिलाने की कोशिश करता है। इसका कारण है कि यहां के आदमी को यह विश्वास नहीं रहता कि जो बोया है वह हो ही जायेगा। उधर के आदमी को यह विश्वास होता है। वह जितना कूतता है, उससे कुछ अधिक ही होता है। यहां का तो बचपन भी चिन्ता-फिकर में डूबा है। उसे भी यह फिकर रहती है कि कल पशु चराने किधर ले जाऊंगा?

पल्लू में सेकेण्ड्री स्कूल बने दो वर्ष हो गये हैं। एक परिचित अध्यापक से मिलने जाता हूं। पूछने पर पता चलता है कि यहां दसवीं में आठ विद्यार्थी हैं। और नौवीं में नौ। पल्लू सात आठ गावों का सेन्टर है।

दस मील के एरिये मे, यह एक हाई स्कूल है। लेकिन पढ़ने वाले? अगर लोग पढ़ायें और पढ़ने काबिल हों तो पचास साठ बच्चे दसवीं कक्षा के सिर्फ पन्नू गाव के ही होने चाहिए। इतना बड़ा गाव तो पन्नू है ही।

लेकिन अड्डे पर बैठा मैं साफ देख रहा हूं कि पास ही के एक खेत मे एक बाप अपने बेटे को हल चलाना सिखा रहा है। लड़का कोई सात आठ वर्ष का है। वह हल की हथेली तक बड़ी मुश्किल से पहुंच रहा है। फिर भी उसने हल सम्भाल रखा है। बाप पीछे-पीछे चल रहा है। बाप सोच रहा है—अब हम अधिक भूमि जोत सकेंगे। अधिक भूमि जुतेगी तो अधिक आमदनी होगी। लेकिन...।

# जमाने की बात

गांव में चुनाव है। वोट डालने के लिए गांव आया हूं। भाई अपनी ओर से गांव के बाहर वाले मन्दिर मे सत्संग करवा रहा है। इसलिए यात्रा की थकान के बावजूद भी जाता हूं। वहा भजनी भाइयों को देख कर पता चलता है कि दो-चार भजनी इस सत्संग मे इसलिए नही आए हैं क्योंकि यह मन्दिर दूसरी पार्टी वालों का है। दूसरी पार्टी का इसी देवता का मन्दिर दूसरी जगह है। एक ही देवता के दो मन्दिर ही नही। इस गांव में पार्टी वाइज नम्बरदार भी दो हैं।

भजन मंडली के संगीत ने अच्छा समा बांधा है। मैं अभिभूत हो गया हूं। मेरा सारा अन्दर भीग गया है। इस भीगने से मैं अपने आपको [illegible] हुआ और हल्का महसूस करता हूं। इस अवस्था मे मैं स्वप्नशील हो [illegible]। साथ ही सोचता हूं कि कितने ही लोग अपने अहं के कारण [illegible]ने से वंचित रह गये हैं।

सवाल के उठने [illegible] जमाने के अच्छे बुरे होने की बात भी मेरे [illegible] है। इस [illegible] शहर मे आज ही सुने एक कॉलेज के भाषण [illegible] जिसमे उन्होंने अफसोस जाहिर [illegible] था [illegible] हमारे यहा से कट चुकी हैं। [illegible] ने नाम गिनाते हुए कैर, खेजड़ा

थे और उन्हें ठण्डे पानी मे रखकर ठण्डा करके खाते थे। सागरियो (खेजड़े की कच्चे तोड़कर सुखाई गई फलियां) की और केरियो (केर का कच्चा फल) की सब्जी माताजी और पिताजी खूब खाते थे। लेकिन उन दिनों हम बच्चो को वह अच्छी नही लगती थी। अब लगती है, लेकिन अब मिलती नही। गांव की भूमि मे दो-तीन बड़े बड़े रोहिड़े के दरख्त थे। देखने मे बड़े सुन्दर लगते थे। उनके लाल लाल फूलों का सौन्दर्य आज भी मेरे मस्तिष्क मे अंकित है और बड़े बुजुर्गों का यह कथन भी कि रोहिड़े की लकड़ी कभी गलती नही।

लेकिन अब गांव की समूची रोही मे उतने बड़े बड़े रोहिड़े के रूख नही बचे हैं। हमारे अपने खेत मे एक छोटा सा रोहीड़ा है। मैं चाहता हूं कि वह बड़ा हो उतना ही बड़ा जितना कि मेरे बचपन मे मेरे गांव की रोही मे होता था, लेकिन मेरा बड़ा भाई उसे काटने पर तुला है। कहता है—रोहिड़े का दरख्त भी क्या दरख्त है?

जमाने के अच्छे बुरे होने की बात करते हैं तो मेरे विचार मे आता है कि कही ऐसा तो नही कि पहले का जमाना हमें इसलिए अच्छा लगता है क्योंकि वह हमारे बचपन का जमाना था। उस समय हमारे मस्तिष्क मे चिन्ताएं नाम मात्र की ही होती थी। माता-पिता ढाल बनकर हमें चिन्ताओं से मुक्त रखते थे। नही तो केर कट गए हैं तो उनकी जगह अंगूर लग गए हैं। खेजड़े और रोहिड़े नही रहे तो शीशम और सफेदे हो गए हैं, नरमा-कपास और गेहूं ज्यादा होने लगी है।

यह बात दूसरी है कि गरीब-गुरब्बों के बच्चे अंगूर नही खा सकते, जबकि पिंजू अधिकतर वे ही तोड़कर लाते और खाते थे। लेकिन गेहूं ज्यादा होने से सबका पेट तो अच्छी तरह से भरने लगा है। नरमा-कपास अच्छी होने से सबको दिहाड़ी भी अच्छी मिलने लगी है। अगर गांव की रोही से केरो का सफाया न होता तो क्या इस बढ़ी हुई जनसख्या को खाना नसीब हो सकता था? हो सकता है हमारे बच्चो को तो यह सब भी अच्छा लग रहा हो और आगे चल कर और भी अच्छा लगे।

दूसरा दिन चुनाव का दिन है। मैं मटरगश्ती करता स्कूल की ओर चल पड़ा हूँ—जहाँ वोट पड़ रहे हैं। दोनों पार्टियों ने स्कूल की चारदीवारी के बाहर दरियां बिछा रखी हैं। तम्बू लगा रखा है। सबको पानी पड़ता है। गांव में वे चेहरे देख रहा हूँ जिनको सालों से नहीं देखा है। यह बात नहीं कि मैं कभी गांव आता नहीं। आता हूँ, लेकिन इतने बड़े गांव में सबसे मिल कहां पाता हूँ? गांव के बस एक हिस्से के दस-बीस लोगों से ही तो मिलना हो पाता है। कभी-कभी तो परिवार के ही सारे सदस्यों से मिल नहीं पाता। आज यहां सब मिल जाएंगे। यह सोच कर देर तक खड़ा रहता हूँ। कई भूले-बिसरे चेहरों के भी दर्शन हो रहे हैं। ये वे चेहरे हैं जिन्हें गांव छोड़े हुए सालों हो गए हैं, लेकिन वोट होने की वजह से आज यहां पधारे हैं। यद्यपि मेरे भाई-बंध एक ही पार्टी से जुड़े हैं, लेकिन मेरे साथ दूसरी पार्टी के लोगों का भी पूरा प्रेम भाव है—यद्यपि यह मेरे गांव से दूर रहने के कारण है। फिर भी है तो सही।

गांव के बड़े लोग आज के दिन गरीब-गुरबों के प्रति बड़े नरम दिखाई पड़ रहे हैं। एक दिन के लिए ही सही छोटे आदमी को अपनी कीमत का भान तो हुआ है। दिन चढ़ने के साथ-साथ भीड़ बढ़ रही है। वोट डालने के लिए बूथों के आगे लम्बी लाइन लग गयी है। दो बूथ हैं फिर भी भीड़ है। गांव की गलियों से आदमियों और औरतों का सैलाब सा उमड़ रहा है। गांव के इतने आदमी और औरतों को मैं पहले कभी त्यौहार-मेले या रामलीला मे ही इकट्ठा देखा करता था।

अब सुनता हूं—उत्सव-मेलों पर भी इतनी भीड़ नहीं होती। लोग घरों से बाहर नहीं निकलते। बेचारी रामलीला को तो बरसों पहले ही सिनेमा ने अधमरा कर दिया था। रही-सही कसर टी. वी. ने पूरी कर दी।

लेकिन चुनाव के लिए लोगों का यूं इकट्ठे होना कोई इकट्ठे होना नहीं है। लोग पास पास खड़े हैं, लेकिन अधिकतर बातचीत अपने खेमे के लोगों के ही साथ हो रही है। कुछ लोग इस 'पार्टीबाजी से ऊपर भी

उठे हुए हैं। वे दूसरी पार्टी के आदमियों से भी मिल रहे हैं। एक बात यह भी है कि लोग वोट डालकर अपने अपने घर नहीं गये हैं। वहीं स्कूल के पास के मैदान में दरख्तों के नीचे बातें कर रहे हैं। लगता है गाव के लोग अलग-अलग बंटे जरूर हैं। लेकिन सब मिलना चाहते हैं। इसलिए तो रुके हैं और एक-दूसरे को देख रहे हैं। कुछ भी हो आज का यह चुनाव कम से कम मुझ जैसे दस-बीस लोगों के लिए तो गाव का नया उत्सव ही है।

बूथ के भीतर एजेंट विरोधी पार्टी के वोटर को जाली बता रहे हैं। थोड़ी बहुत बोल चाल भी हो गयी है। यह चुनाव विधान सभा और लोक सभा का है, इसलिए कोई ज्यादा गर्मा-गर्मी नहीं हुई है। नहीं तो पिछली बार पंचायत के चुनाव में इन्हीं जाली मतों को लेकर बंदूकें भी तन गयी थीं। तब मजिस्ट्रेट ने बीच-बचाव किया था और समझाया था कि जिनका नाम मतदाता-सूचि में हैं वे तो वोट डालेंगे ही।

यहां यह भी ध्यान देने की बात है—गाव के लोगों को जब पता है कि गाव की मतदाता सूचि में कुछ जाली मतदाता हैं तो लिस्ट तैयार होते वक्त वे ध्यान क्यूं नहीं देते? उन्हें वे नाम उसी समय कटा देने चाहिए। जाहिर है लोग राजनीति में रुचि तो लेते हैं, लेकिन जागरूक नहीं हैं।

लोग चुनाव बंद होने और शाम होने पर ही हटते हैं। मैं भी लौट आया हूं। सोच रहा हूं—जमाने ने हमसे कुछ छीना है तो कुछ दिया भी है। यह हमारी योग्यता और दृष्टि पर निर्भर करता है कि हम उसे प्यार के काबिल बनाते हैं या घृणा के।

# ग्रामीण खेलों को बचाओ

बात सिर्फ बीस साल पहले की है—बनवारी और खेताराम के गांव के उठते हुए पहलवान थे। रात को भेड़ों के बाड़े में खेल मालि हुआ करती थी। कभी-कभी मैं भी चला जाता था। कई अन्य चेले आते थे।

उन दिनों कबड्डी और कुश्ती दो प्रमुख खेल थी। प्रत्येक गाव रात को जवान अलग से कबड्डी खेलते थे तथा बच्चे अलग से। प्र योगिता के लिए बास का बास से और गांव का गाव से मुकाबला हे था। मेलों और त्योहारों पर कबड्डी और कुश्ती के विशेष मुका होते थे। सारे गांव वाले मिल कर अपने गाव या बास के पहलवान घी दिया करते थे। हम आस पड़ौस के गावो में भी कुश्तिया कबड्डी के मैच देख कर आया करते थे।

गली हो या चौपाल या फिर किसी घर का दालान, जहा कहीं चार आदमी जुड़ते, स्थानीय पहलवानों का जिक्र होता। कौन जीते कौन हारेगा—ऐसी अटकलें लगाई जाती थी। कमेट्री और राज को कोई जानता ही नहीं था। लोगों की चर्चा का विषय कु कबड्डी और खुराक होती थी या फिर कौन जवान मतवाले ऊंट एक लाठी से गिरा सकता है, कौन नहीं—ऐसी बातें होती थी। दूध पी जाने की शर्तें लगा करती थी। लोग आध आध सेर घ जाया करते थे।

...कोई खेल नहीं जमता था तो नए जवानों की 'मिवां' क

के लिए चुन्नी पुनियां अपने घर से पसेरी हो उठा लाता था। पसेरी को
एक पल्ले से धागे से बांध कर अंगूठे पर पड़े वाले बल से भींच कर
उठाने लग जाता था।

सूथारों की पछोड़ में लकड़ का एक मन बोझ का माला पड़ा रहता था, जिसे जवान आ आ कर उठाते रहते थे। रूप चंद खाती हर वक्त जवानों की बातें करता रहता था। जो जवान माला नहीं उठा सकते थे या गर्म फाल पर ठीक से घन नहीं लगा सकते थे उनकी रूप चंद खिल्ली उड़ाता था।

कपड़े की गेंद का खेल भी खूब जमता था। वैसे तो यह खेल बच्चों का ही माना जाता था, लेकिन कभी कभी जवान भी खेलने लग जाते थे। बच्चों के खेलने लायक और भी बहुत से छोटे-मोटे खेल थे। उन सब की याद मेरे जहन में बुरी तरह समाई हुई है।

लेकिन आज न तो बनवारी और खेतारान पहलवानी करते हैं, न उनके चेले चांटे। रूपचंद खाती तो गांव छोड़ गया है। उसकी जगह दूसरे जो खाती आए हैं, उन बेचारों से तो हल की फाल भी बड़ी मुश्किल से उठाई जाती है। वह पहले वाला कुछ भी नहीं रहा—सारे गांव में कबड्डी कोई नहीं खेलता। शायद गांव के छोटे-छोटे बच्चों को कबड्डी खेलना ही नहीं आता।

चौपाल-गली में जहां कहीं भी लोग मिलते हैं। बातें कांग्रेस और जनता पार्टी की होती हैं या फिर आवश्यक चीजों की किल्लत का रोना रोया जाता है। राजनीति के कारण ही गांव में दो पार्टी हो चुकी हैं— एक पार्टी के आदमी की दूसरे के साथ बोलचाल ही बंद है। ऐसी
स्थिति [illegible]
[illegible] हर्जी-हर्जी में 'जनता' कहा
[illegible] कि का क, ख, ग नहीं जानता
[illegible] सभी को तो कुर्सी में हुन हा
[illegible] उस देश मर्दित करने और बढ़ाने
के राजनी[illegible] [illegible] रहे हैं।

गांव में यह मिथ घर पैदा हुआ, नवयुवक कमेंट्री सुन सुन सपने यह कमेंट्री गांव में बजने लगी है. गांव के खिलाड़ियों में भावना आ गयी है। अरे! देखो, मैच तो इनका है खिलाड़ि रेडियो पर होता है, हम तो यूं ही झक मार रहे हैं।

बस यही बात सबके दिमाग में घर कर गयी है। प्रत्येक बड़ी ऊंचाई पाने आदमी को जान गया है और अपने आपको बौना समझ कर रहा है।

यही बात है कि बनवारी और सीताराम को देख कर यह नहीं लगता कि ये कभी पहलवान रहे हैं। गांव का आदमी, खिलाड़ी न रहने से शारीरिक और मानसिक रूप से बीमार हो गया है। वह खेलकर दुनिया को जानता है, लेकिन खुद की जिंदगी नहीं जी सकता, इसलिए बीमार है।

मैं यह नहीं कहता कि ग्रामीण लोग राजनीति में पड़ें ही नहीं। लेकिन गांव में केवल राजनीति ही रहे और कुछ भी नहीं यह अस्वास्थ्यकर है। आकाशवाणी कमेंट्री भी दे, लेकिन साथ में स्थानीय अच्छे खिलाड़ियों की प्रशंसा का भी कोई कार्यक्रम हो। उन्हें ग्रामीण खेलों के महत्व को बताया जाए तब ही गांव का आदमी स्वस्थ रह सकेगा। ग्रामीण खेलों को रेडियो और राजनीति ने उजाड़ा है तो वे ही उन्हें पुनः स्थापित कर सकते हैं।

# सरकण्डा गन्ने से भी मीठा

शीर्षक देख कर वे लोग चौंकेंगे जो लोहे और सीमेंट के बने पक्के मकानों में रहते हैं और डनलप के गद्दों या निवार पर सोते हैं। मैं भी तो इसकी मिठास को कस्बे में आकर भूला हुआ था। किराये के पक्के मकान में रहता था। लेकिन किराये से तंग आकर कच्ची बस्ती में कच्चा मकान डाला तो मुझे भी छत इन सरकण्डों की ही डालनी पड़ी। मकान में सोकर जब जब भी मैंने छत की ओर ताका, सरकण्डों पर मुझे बहुत प्यार आया। इस बीच एक मजदूर को सरकण्डों की गाड़ी भर कर ले जाते देखा तो सरकण्डों पर लिखने को मन चाहा। लेकिन फिर भी विचार दबा रहा।

एक दिन पत्नी बचे पड़े सरकण्डों की [illegible] बना लाई और एक रुपये का शुद्ध लाभ हो गया तो मुझसे रहा न गया। सोचा कि अगर सरकण्डों पर न लिखा तो शोषित समाज मुझे अपना पक्षधर भी कबूल नहीं करेगा। शोषित वर्ग को राहत देने वाला एक सरकण्डा ही तो है।

पक्के मकान की छत बनाने वाले न जाने कितना सीमेंट और लोहा बर्बाद कर देते हैं, जबकि एक कच्चे मकान की छत डालने के लिए चाहिए सिर्फ सरकण्डा। सरकण्डा नदी नालों के किनारे अपने आप खूब फलता-फूलता है।

सरकण्डों की छत डालने वाले इसे कई तरह से काम में लेते हैं। सरकण्डों के सिरे वाले ऊपरी भाग को अलग करके सरकियां बनती हैं। इन सरकियों की छत बड़ी सुन्दर बनती है। लेकिन सरकियों को भी

पशुओं को परिवार ही मानते हैं, कमजोर लोग तो सरकण्डों को [illegible] के ही कड़ियों और बल्लियों पर टिका देते हैं। ज्यादा करें तो [illegible] [illegible] देते हैं या सरकण्डों को छील-छील कर [illegible] बना लेते हैं। [illegible] [illegible] में कई वर्षों की [illegible] [illegible] आती है।

गांव में रहा हूं इसलिए सरकण्डों का खूब [illegible] उठाता रहा हूं। आजकल के बच्चे तो जानते ही नहीं कि कलम क्या चीज होती है। हम तो खूब कलम बनाया करते थे। मुझे आज भी याद है कि किस प्रकार जहां-तहां से सरकण्डों के 'झुंडों' में से सरकण्डे खींच कर लाते और फिर उन्हें छील कर उनकी कलम बनाया करते थे। ब्लेड से कलम बनाते बनाते उंगली भी कभी कट जाया करती थी। कलम बनाने के साथ कई तरह के खिलौने भी हम बनाया करते थे। हरे सरकण्डों के फूलवाले भाग को खींच कर अलग कर लेते थे और उन्हें गूंथ-गांठ कर एक पहिया बनाया करते थे। फिर उसे सरकण्डे में टांग कर चलाया करते थे। बड़े बुजुर्ग सुन्दर सा झुनझुना भी गूंथ देते थे। सरकण्डों से बने खारिए पशुओं के आगे तूड़ी-नीरा डालने के काम आते थे और प्रत्येक घर में पाये जाते थे।

चौधरियों की चौकियों पर सरकण्डों से बने 'मूढ़ों' की शोभा देखते ही बनती थी। इन मूढ़ों को चमड़े से ऐसा मढ़ दिया जाता था कि सालों तक टूटने का नाम ही नहीं लेते थे। शाम को थके-हारे ग्रामीण इन पर आकर बैठते थे। हुक्के और गप्पों का मजा लेते थे। अब तो इन ग्रामीण भूपतियों ने भी मूढ़ों की जगह सोफे रखने शुरू कर दिए हैं, जब से सोफों का चलन बढ़ा है, चौधरियों के पास गरीब ग्रामीणों का आकर बैठना घट गया है। ऐसा लगता है जैसे सरकण्डों के वे मूढ़े आपस का सौहार्द बनाए हुए थे। वे नहीं रहे तो सौहार्द भी जाता रहा।

आजकल तो दाने और भूसा अलग करने के लिए थ्रेशर चल पड़े हैं और किसानों को छाज-छलनियों की आवश्यकता नहीं रही, नहीं तो सरकण्डों से बनी छलनियां और छाजें किसानों के खूब काम आया

करते थे।

अनाज साफ करने के लिए सरकण्डो से बने छाज तो आज भी प्रत्येक गृहिणी की आवश्यकता है। गृहिणी चाहे गाव की हो या शहर कस्बे की सबको इसकी आवश्यकता रहती है। गाव की गृहिणिया तो इनसे अपने मकानो के भीतर सामान रखने के लिए सुन्दर-सुन्दर पड़-छतियां बना लेती हैं।

सरकण्डो से हमे एक और अत्यधिक उपयोगी वस्तु प्राप्त होती है, मूज। यह सरकण्डो के छिलको से तैयार होती है। हमारे गाव मे दो-चार आदमी मूज कूटने के लिए बड़े मशहूर थे। गाव मे एक-दो जगह मूज कूटने के लिए चरखी-बेलनी चलती ही रहती थी। अब भी फुर्सत मे गरीब-गुरबे यह काम कर ही लेते हैं। मूज का खूब व्यापार होता है। बाजारो मे बाण बाहियो की दुकानें मूज से भरी रहती हैं। यह तो एक अच्छा-खासा उद्योग है। कितने ही लोगों को इससे काम मिलता है। भला उन लोगों को यह गन्ने से क्या कम मीठा लगता है जिन्हे इससे रोजी-रोटी मिलती है?

# दान-पुन

एक छोटी सी यात्रा के बाद अभी शहर के गोदामों पर उतरा हूं। सुबह का समय है इसलिए शरीर में स्फूर्ति है। पर पहुंचने की कोई जल्दी नहीं है। मैं रुककर लोग-बागों को देख रहा हूं। प्रत्यक्षतः मुझे दिखाई पड़ता है कि हमारे इस सिंचित क्षेत्र में हाड़ी काटने के लिए बारानी इलाके से सैकड़ों मजदूर आए बैठे हैं। बूढ़े, बच्चे और स्त्रियां सभी हैं। कुछ चिलम का दम लगा रहे हैं। ज्यादा रूखी-सूखी रोटियां चबा रहे हैं।

मैं सोचता हूं—सूखी रोटियां इनके गले से कैसे उतर रही हैं और कैसे पच जाएंगी? हम अच्छी सब्जी-रोटी खाकर भी शरीर में सुस्ती और कमजोरी महसूस किया करते हैं। ये सूखी रोटियां खाकर भी हाड़ी काटेंगे। काटेंगे नहीं तो खाएंगे क्या? फिर तो इन्हें यह सूखी रोटी भी नसीब नहीं होगी। अपने देश में यह सब देख कर सहज ही यह विश्वास हो जाता है कि आदमी अपना भाग लेकर पैदा होता है।

मजदूरों की मजबूरी के गम में डूबा आगे आता हूं तो पाता हूं कि आढ़त की दुकानों के आगे पक्के चबूतरों पर एक सेठजी कुत्तों को कुछ चावलों जैसी चीज खिला रहे हैं। कुत्ते हैं कि खा ही नहीं रहे हैं। गौर से देखने पर मुझे पता चलता है कि यह चावल जैसी लगने वाली चीज चावल ही है। गुड़ वाले मीठे चावल जिनके लिए कभी-कभी मेरा भी मन कर आता है।

[illegible] और आगे सरकता हूं तो देखता हूं कि आगे [illegible] दुकानों के

आगे यूं ही चावलों की ढेरियां पड़ी हैं।

तभी मेरी नजर पास ही नुक्कड़ पर चावल बना रहे दो-चार लोगों पर पड़ती है। मैं उनके पास जाकर पूछता हूं—'क्यूं भाई, ये चावल आज किस उपलक्ष में बन रहे हैं?

एक समझदार व्यक्ति मुझे बताता है—'बस यूं ही आज इतवार के दिन थोड़ा दान-पुन हो रहा है।'

'कौन करवा रहा है यह सब ?'

'बस ये दो-चार दुकान वाले मिल कर कर रहे हैं।'

मुझे प्रतीक्षालय में सूखी रोटियां खाते मजदूर याद आते हैं। मैं उनसे कहता हूं—'तो भाई, उन मजदूरों को बुलाओ जो स्टेशन पर उतरे हुए हैं। बेचारे वे सूखी रोटियां खा रहे हैं।'

उन्हें मेरा सुझाव पसन्द आता है। वे अपना एक आदमी उनके पास भेजते हैं।

उन्होंने उनके पास बुलाने को आदमी तो भेज दिया है, लेकिन क्या वे आएंगे? स्वाभिमानी हुए और शर्म-संकोच खा गए तो शायद ही आएं। फिर जिन्होंने कुछ खा लिया है उनके तो न आने की पूरी गुंजाइश है। हालांकि इस कस्बे में पूरे गरीब-गुरबे हैं और इनके ये चावल खप जाने की पूरी उम्मीद है, फिर भी मैं सोचता हूं कि अपने इस समाज में कहीं कसती जरूर है।

जो दाता के दान के रूप में जिन लोगों को देना चाहते हैं यह सीधे ही उन तक पहुंच जाता तो कितना ठीक रहता। न तो इन बेचारों को इतनी सोहमत करनी पड़ती, न ही जरूरतमंदों को सूखी रोटियां खानी पड़ती।

# मेरी जनगणना का प्रथम परिवार

मकान सूचिकरण का नक्शा देख कर मुझे बोध हो गया था कि सरकारी अस्पताल के पूर्व मे मेरा ब्लाक है जिसकी मुझे जनगणना करनी है। यह तो मुझे पहले से ही मालूम था कि कस्बे का यह हिस्सा निम्न जात वाले निम्न वर्ग के लोगों का है, लेकिन उनकी बदहाली के प्रति इतनी सवेदना कभी पैदा नही हुई थी।

मैं ब्लाक के भीतर पहुंच गया। एक जगह एक बुड्ढा बच्चों से घिरा बैठा था। वह बच्चों के खाने लायक कोई चीज बेच रहा था। समय दोपहर का था। मैंने बच्चों की मदद से मेरे ब्लाक का प्रथम मकान ढूंढने का प्रयत्न किया जिसमें रहने वाले परिवार की मुझे जनगणना करनी थी, लेकिन बच्चों की सहायता से मैं सफल न हुआ। तभी मुझे एक कम परिचित, लेकिन समझदार व्यक्ति मिल गया। उसकी मदद से मैंने प्रथम मकान तो ढूढ ही लिया, साथ में उसके साथ-साथ लगभग सारे ब्लाक का चक्कर भी लगा डाला। ब्लाक की सारी गलियां बेहद तंग और कीचड़ वाली थी। घर बिलकुल छोटे-छोटे और कच्चे थे। एक घर की जगह में कई-कई परिवार घुसे हुए मुझे नजर आए। वे सौ के लगभग परिवार जितनी दूर में बसे हुए थे, उतनी दूर में तो गांव के जमीदारो के नोहरे होते हैं। मुझे दुखद आश्चर्य हुआ कि इतनी कम जगह में इतने अधिक लोग रहते हैं।

खैर, सब देख-दाख कर प्रथम मकान के अन्दर दाखिल हुए। वह आदमी मेरे साथ ही था। वह परिवार वालों का भी परिचित था, इस-

लिए मेरे सामने पड़ी एक पुरानी कुर्सी निकाल लाया। एक साठ वर्ष की बुढ़िया मेरे सामने आ बैठी। चूल्हे के आसपास बैठी उसकी बहुओं ने घूंघट निकाल लिया। मेरी वजह से नहीं, साथ वाले आदमी की वजह से, क्योंकि बाद में उसके जाते ही उन्होंने घूंघट हटा भी दिया था। बुढ़िया ने गली में निकले बुड्ढे को भी बुलाया, लेकिन वह मेरे परिवार में मौजूद रहने तक आया नहीं। शायद बुलाने वालों को मिला नहीं। मैंने बुढ़िया को जनगणना के बारे में बताया और सही-सही उत्तर देने के लिए आश्वस्त किया।

मकान उनका स्वयं का था। कहने को मकान में दो कमरे थे, कच्चे, लेकिन उन्हें कमरों की बजाय हम एक को मध्य वर्ग के परिवार की रसोई और दूसरे को स्नानघर मान सकते हैं। खाते-पीते घरों के तो स्टोर भी इनसे बढ़िया होते हैं। इतने तक भी बस नहीं। मेरी संवेदना उस परिवार के प्रति इतनी अधिक तब उमड़ी जब उन्होंने परिवार में रहने वाले दम्पतियों की संख्या चार लिखाई। अरे कमरे दो और दम्पति चार। जवान बहुओं की तरफ मेरा ध्यान एक बार फिर गया। कमरे इतने बड़े भी नहीं थे कि उनके पर्दे इत्यादि लगा कर दो भाग करे जा सकते। उनमें कोई मुश्किल से दो-दो चारपाइयां बिछती होंगी। मुझे मंटो का वह पात्र याद हो आया जो ऐसी ही परिस्थितियों में अपनी पत्नी के साथ सहवास नहीं कर पाया था और पागल हो गया था। इस परिवार के जवान दम्पतियों पर भी क्या गुजरती होगी, जब उन्हें एकान्त में रात काटने को जगह नहीं मिलती होगी, यह तो कोई भुगत-भोगी ही बता सकता है।

परिवार में नल या बिजली तो क्या, शौचालय भी नहीं था। परिवार का मुखिया और मुखिया की पत्नी कुछ भी नहीं करते। बुढ़िया कहती है बहुएं अच्छे घरों की हैं, खुद ही घर का सारा काम-काज देख लेती हैं। बुढ़िया के दो जवान बेटे बाजार में सड़क के किनारे बैठ कर सब्जी बेचते हैं। उसी से परिवार की गाड़ी चलती है।

इस परिवार के बारे मे मुझे एक आश्चर्य यह भी हुआ कि इसके दो छोटे लड़के उम्र तेरह साल और नौ साल, न तो कभी स्कूल गए और न ही स्कूल जाते हैं। मैंने इनके स्कूल न जाने की वजह पूछी तो बुढ़िया ने कहा कि महीने मे दस-दस रुपये कहां से लाएं? इस कस्बे में प्राइवेट स्कूलों की इतनी अधिकता है कि भोले-भाले लोगों को सरकारी स्कूल का पता ही नही चलता। मैं उन्हें सरकारी स्कूल में बच्चे भेजने की सलाह देता हू तो वह कहती है—सरकारी स्कूल वाले भी नाम लिखाने के दस रुपये मांगते हैं और फीस भी मांगते हैं। मैं उन्हे निशुल्क शिक्षा के राज्य सरकार के नियमों के बारे मे बताता हूं, लेकिन जानता खुद भी हूं कि सरकारी स्कूल के मास्टर भी नियमो को ताक पर रख कर ऐसे लोगो से कुछ न कुछ ऐंठने से बाज नही आते।

# धरती के लोग

पीली वगा कस्बा यद्यपि काफी छोटा है फिर भी कई मिल-कारखानों के कारण पूरी यान्त्रिकता लिए हुए है। इसका आभास मुझे तब होता है जब मैं किसी गांव में पहुंच जाता हूं। गांव के हरे-भरे खेत कच्चे-पक्के घर और शान्त वातावरण मुझे बड़ा सुकून पहुंचाते हैं।

पिछले रविवार को मैं गांव आवरदावाली में था अपनी भानजी के पास। बस नौ-सवा नौ बजे के बाद साढ़े बारह बजे ही मिल सकती थी, इसलिए मैं खाली था। सुबह दिशा-मैदान के लिए निकले थे तब ही आवरदावाली का वह ऊंचा धोरा और उस पर स्थित मन्दिर दिखाई पड़ गया था। मैंने जवाई को अपना इरादा बताया तो वे भी तैयार हो गए। एक साइकिल उनकी थी दूसरी पड़ोस से मांग ली और खाना खाकर निकल पड़े। घर से निकले थे तो धोरा बड़ा निकट लगता था, लेकिन साइकिलों पर भी तीस-चालीस मिनट लग गए। धोरा और मन्दिर सड़क से फर्लांग भर की दूरी पर है। ऊपर चढ़ने के लिए रास्ता रेतीला लगा हमें। सोचा—साइकिलों समेत ऊपर तक जाना काफी मुश्किल होगा। साइकिलें सड़क पर खड़ी करना भी ठीक नहीं था। एक साइकिल पराई और नई थी, दूसरी के ताला नहीं था। तभी हमें सड़क के पास ही एक खेत में एक घर की ढाणी दिखाई दे गई। वहां साइकिलें छोड़ कर धोरे को देख आने का विचार बना हम उस मकान की ओर चढ़ने लगे। मकान धोरी की ऊंचाई पर था। रेत पर साइकिलें घसीटने की मेहनत से बचने के लिये हमने मकान से चालीस-पचास फुट दूर ही

साइकिलें खड़ी कर दी । मकान मालिक खटिया पर खेस ओढ़े सोता था। उसकी घरवाली और लड़की आंगन में खड़ी थी । हमने साइकिलों का ख्याल रखने की बात कही तो मर्द ने कहा—'कोई बात नहीं, रखत ही है।'

लेकिन उसकी घर वाली ने मजाक किया—'नहीं, हम तो साइकिलें चुराएंगे । अबकी बार अकाल पड़ा है । इनसे कुछ दिन तो टूटेंगे।'

मैंने कहा—'इनसे भला क्या काल टूटेगा ?'

औरत बड़ी हाजिर जवाब निकली । कहा—'कुछ तो हजार-आठ सौ बटेंगे ही।'

खैर हंसी-मजाक से खुश होते हुए हम आगे निकल गए। खेत में हमने चारों ओर नजर दौड़ाई । कहीं कोई तिनका भी नजर न आया। दुबाब की जड़ें तक सूख गयी थी । इन दिनों हुई मामूली सी बारिश से रेत की एक पपड़ी सी बंधी थी, जो अब पूर्णतया सूख चुकी थी । प्रकृति की कैसी लीला थी ? उस ऊंचाई के खेत में पूरा सूखा था और नीचे के खेत नहरों के पानी की वजह से सेम से सड़ रहे थे । उनके उस खेत के पास से भी एक पक्का नाला गुजर रहा था, लेकिन वह शायद नीचा था या उनके खेत का पानी नहीं बंधा था । कुछ भी हो, उनका वह खेत सागर में रह कर भी मीन प्यासी वाली कहावत चरितार्थ कर रहा था।

हम धोरे पर चढ़ने लगे । धोरा काफी ऊंचा था । उस पर पूरा मरुस्थलीय वातावरण था । फोग और बुई के पौधे खड़े थे । कहीं-कहीं सेवण घास के सूखे पूजे भी थे । मुझे यूं लगा जैसे मैं अपने बागड़ वाले गांव दनियासर में आ गया हूं । वह सूखा रेतीला स्थान मुझे उतना ही सुकून दे रहा था जितना कि फूली हुई सरसों का खेत देता है ।

घोरे के शिखर पर मन्दिर के आगे एक मकान में दो साधू बैठे पी रहे थे । एक-दो सेवक इधर-उधर घूम रहे थे । पिछवाड़े में बछिया बंधी थी । हम जूते उतार कर मन्दिर के । अच्छा-खासा मन्दिर था । चबूतरे पर एक बड़ा

गा मगाद्दा रखा था। चारों कोनो पर चार अलग-अलग देवताओ की मूर्तिया रखी थी। हम दो-चार मिनट के लिए बरामदे मे बैठे। चारो ओर का परिवेश दिखाई दे रहा था। उतनी ऊचाई से नीचे खेतो की ओर देखने से बड़ा विहगम दृश्य नजर आ रहा था। एक तरफ काफी दूर मे सेम का पानी चमक रहा था।

वातावरण बिलकुल शात था, लेकिन उस शाति का आनद तो तभी उठाया जा सकता था जब हमारे भीतर भी शाति होती। भीतर तो बस के निकल जाने का सोच था। चलने की जल्दी लगी थी। साढे बारह बजे वाली बस निकल जाने का अर्थ था फिर दो-तीन घटे का इतजार करना और बकी के सारे दिन के कार्यक्रम का उलट जाना।

हमारे पास कोई नही आया। मन्दिर के पट हमने स्वय ही खोले। मूर्तिया देखी। थोडा अर्थ भी चढ़ाया। हम लौटे तो साधू खाना खाने मे लगे थे। मूर्तियों ने तो बोलना ही क्या था? वहा के मानवो ने भी हमें देखकर मुह नही खोला। हा, शुरू मे हमारे अभिवादन का जवाब साधुओ ने जरूर दे दिया था।

घर से खाना खाकर चले थे, इसलिए मुझे थोडी प्यास अनुभव हो आयी थी। ऊपर पानी था, लेकिन वहां हमे पानी याद ही नही आया। नीचे ढाणी मे, जहा हमने साइकिलें छोड़ी थीं, आकर मैंने पानी मागा। घरवाली ने अपनी लड़की को पानी का लोटा पकडाने को कहा। लड़की ने पीतल के चमकते लोटे मे पारदर्शी जल लाकर मुझे दे दिया। पानी पी चुका तो मैंने यूं ही कुछ बिना सोचे-समझे उनसे उनकी जाति पूछ ली।

औरत ने फिर बाजी मार ली। हस कर बोली—'कैसे मानस हो? पानी पीने के बाद जाति पूछते हो?'

मैंने कहा—'जात पूछने का मेरा मकसद वह नही है जो आपने समझा है। मैं तो प्रत्येक जाति का पानी पी सकता हूं। मैंने तो जाति वैसे ही साधारण तौर पर पूछी है।'

बात खेती-पाती पर चली तो उन्होंने बताया कि अन्य सालों में अ
खेत में सावणी और आधे में हाड़ी करते थे। अबकी बार सारे में
सावणी कर बैठे। बस इसी में मार खा बैठे। एक बार बरस कर
मिट्टी में बीज तो मिलवा दिया, लेकिन फिर उड़ कर भी छट
गिरी।

उन लोगों से बोल-बतल करके मन बड़ा प्रसन्न हुआ। मैंने म
मन में सोचा—एक तो उस ऊंचे धोरे के लोग हैं जो किसी से ब
नहीं और एक इस नीचे धोरे के लोग हैं जो अगले को धक्के से धुना
हैं और अगले के हृदय में खुशी संचार देते हैं।

# गरीबी गांव की

ऊपरी तौर से देखने पर आपको लगेगा कि गाव बदले हैं। गरीबी म हो गयी है। जिन लोगों का समूचा घर कच्चा होता था उनके घरों एक-एक बैठकें पक्की हल गयी हैं। बिजली लग गयी है। पानी की टी लग गयी है। मामूली जमीन वालों के पास ट्रैक्टर हो गये हैं। हले से ज्यादा पैदा होने लगी है। काम-धधा बढ़ा है और खेतिहर मजदूरों को भी अधिक काम और पैसा मिलने लगा है। गरीब से गरीब गाव वाले के पास एक टेरीकाट का कुर्ता जरूर है। सब साबुन से नहाते-धोते हैं। कई मैट्रिक पास हो गए हैं। पाच-दस बी.ए. और एम ए. भी। फिर भी गांव के आदमी के पास पैसा और फुर्सत नही है। आज गाव मे छोटा या मध्यम दर्जे का कोई किसान ऐसा नही जिस पर सरकारी और गैर-सरकारी ऋण न हो।

आज से बीस-पच्चीस साल पहले गाव का आदमी जरूर पैसे और फुर्सत वाला था। जब वह बैलों से खेत जोतता था और कच्ची नालियों से सिचाई करता था तब वह ठसक से बाजार जाता था और खाती की खनोड़ मे बैठ कर कहकहे भी लगाता था। आगे गाव मे दूध नहीं बेचा जाता था। दूध-पूत एक समान गिने जाते थे, लेकिन अब दूध बेचने से भी पूरा नही।

लोग आर्थिक रूप से ही गरीब नहीं हुए हैं, नैतिक रूप से भी गरीब हो गए हैं। गाव मे इक्का-दुक्का चोर तो सदा ही हुआ करते थे। मैं बहुत छोटा था तब पिता जी के साथ रात को खलिहानों में रखवाली के

ती हुई। मैं जानता था, तुलसी मैट्रिक पास तो जरूर है, लेकिन
रे को पढ़े-लिखे को दुहराने के लिए फुर्सत कहा मिली।

जानता था उसके बाप ने उसे मैट्रिक पास करने से पहले ही
दिया था। घर में तंगी तो थी ही ब्याह कर देने से और वह
यह भाई-बहनों में भी सबसे बड़ा था। इसलिए चिन्ता-फिक्र
रु से ही थी। बाप जवानी के दिनों में शराबी रहा और बुढ़ापे में
बीमार रहने लगा। उसे अपनी गृहस्थी के साथ-साथ अपने बाप
हस्थी का भार भी उठाना पड़ा।

घर में कहीं आने-जाने और ठगाने को पैसा नहीं था इसलिए ज
र करने पर भी कहीं नौकरी नहीं मिली। अपनी दा धीरा भोजन न
होता? इसलिए गाव के बड़े किसानों के यहां दिहाड़ी मजूरी करने
ा। दिहाड़ी करते-करते इन्हीं किसानों की पांच-सात बीघा भूमि थोड़े
रखे और बेगार पर बाहने लगा।

परवाली भूमि का काम खत्म होता तो बेगार का काम बेगार
का और बेगार से छुट्टी मिलती तो किसी बड़े खेत का काम बेगार
जड़ा। कहने का अर्थ यह कि वह दिन-रात कामों की चरखी पर चढ़ा
रहा। खेती-बाड़ी के धंधों और घर-गृहस्थी ने उसे सब कुछ भुला
दिया। सब कुछ जानते हुए भी मैंने उसे टोका—तुलसी तुम पढ़े हुए हो
र भी एम. एल. ए. और एम. पी. का फर्क नहीं समझते?

पढ़-लिख कर भी अनपढ़ों से गए-बीते हैं। हमारी सरकार अधिक से अधिक लोगों को पढ़ाने के लिए चिन्तित है। वह प्रौढ़ शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा, रेडियो, टी. वी. इत्यादि के माध्यम से ज्ञान का विस्फोट कर रही है, लेकिन गांव का आदमी इस विस्फोट के बावजूद भी कुछ नहीं जानता। क्या लोगों को शोषण से मुक्त किए बिना, थोड़ी सुविधा दिये बिना शिक्षित करना भी बेमानी नहीं है?

# काम-काजियों के वीच में हरामी टोला

कस्बे से बाहर निकल कर ज्योंही मैं हरे-भरे खेतों को देखता हूं तो मन को एक तसल्ली होती है कि थोड़ी सी दूर एक गांव की यात्रा का प्रोग्राम बना कर मैंने बहुत अच्छा किया है। मन में जो उदासी थी उसकी वजह से घर पर भी कोई काम न कर पाता। उदास रहता। अब इधर निकला हूं तो लोगों के दर्शन होंगे। गांव के बच्चे और लम्बे-चौड़े मकानों के दर्शन होंगे। इस विचार के साथ ही मेरी समस्त चेतना लोकदर्शन के लिए चौकन्नी हो जाती है।

एक-दो फर्लांग के फासले पर ही एक बीस-तीस घरों की आबादी वाला चक आता है। जानता हूं कि यह अच्छी जमीन-जायदाद वाले ऊंची जाति के लोगों का चक है। इसीलिए तो चक के बाहर खाली पड़ी जमीन पर चक की युवा पीढ़ी क्रिकेट खेल रही है। चक इतना निकट होकर कस्बे की होड़ कैसे न करे।

घग्घर नदी की उपजाऊ पट्टी पर से गुजर रहा हूं। दूर-दूर तक हरे-भरे खेत नजर आ रहे हैं। इस पट्टी के खेतों का सौन्दर्य इतना जबरदस्त है कि कोई एक बार देख ले तो सालों तक याद रहता है। बहुत छोटा था तो एक बार बड़े भाई के साथ ऊंट पर इन खेतों में से गुजरा था। तब सरसों फूल रही थी शायद। उसका सौन्दर्य आज भी मेरे मस्तिष्क पर अंकित है।

नदी की मुख्य धार पर लम्बा-चौड़ा और ऊंचा पुल है। दुर्भाग्य काफी दूर से ही सड़क ऊपर उठना शुरू हो गई है। सड़क इतनी

ची थी। इसलिए दुबारा भी देखी जा सकती है, यह सोचकर आगे बढ़ जाता हूं।

जिस गांव में मुझे पहुंचना था पहुंच गया हूं। जिस घर में जिनसे मिलने आया हूं, वे घर ही हैं। वैसे गांव के खेतीखड लोगों के लिए यह दिन के तीन-चार बजे का समय घर होने का वक्त नहीं है, लेकिन वे घर पर ही हैं, गांव के बड़े-बड़े चौधरियों की तरह जिन्हें मैंने रास्ते में घरों के आगे बनी चौकियों पर बैठे देखा था। इनके इतनी ज्यादा जमीन तो नहीं है, पर है जरूर, बस उसी के बलबूते पर घर बैठे हैं, भले ही कर्ज में डूबे हैं।

जिस परिचित से मुझे मिलना था, वह था तो घर में ही, लेकिन वह किवाड़ों में बंद था। मेरे आने का पता लगने पर भी बाहर नहीं आ रहा था। गुनगुनाहट तो हो रही थी, लेकिन फिर भी मैंने अपने को सब्र रखा। सोचा, चलो अब आए हैं तो कुछ देर बैठे हैं। कुछ आराम ही हो जाएगा। जब तक चाय-वाय आएगी तब तक तो निकलेगा ही।

घर के बच्चों से जब मैंने पूछा कि अन्दर कौन-कौन है और क्या कर रहे हैं तो उन्होंने दांत निकालते हुए मुझे इतना ही बताया कि भीतर एक "मोड" है।

सुनकर मैं हैरान हुआ "मोड" का घर-गृहस्थी के बीच यूं छुपकर बैठने का क्या काम? जरूर दाल में कुछ काला है, लेकिन दूसरों की जिन्दगी में अनुचित हस्तक्षेप करना मुझे अच्छा नहीं लगा। फिर वे मेरी कोई बात मान ही लेंगे, इसका भी मुझे इतबार नहीं था।

थोड़ी देर में मेरा परिचित बाहर आ गया। मुझे खुशी हुई कि वह ठीक-ठाक था और पूरी सेन्स में बातचीत कर रहा था। मैंने उससे अपने मतलब की [illegible] की और उससे एक अन्य परिचित के बारे में [illegible] अन्दर बैठा है, कुछ खाने-पीने का प्रोग्राम [illegible] पूछा—'यह खाने का क्या वक्त है?'

मैं, एक तो यह सोचकर कि मेरा दूसरा परिचित आसानी से बाहर नहीं निकलेगा और दूसरा यह सोचकर कि चलो देखें तो सही अन्दर मोड-मूड कैसा है, किवाड़ खोलकर एकदम अन्दर हो गया। एक सन्त सिर मुंडाए चारपाई पर बैठा था और मेरा दूसरा परिचित नीचे बैठा था। उसके सामने एक-दो खाली और एक दो भरी प्लेटें पड़ी थीं। एक तीसरा आदमी सन्त की चारपाई के पास खड़ा था। मीट-शराब और तम्बाकू की तेज गन्ध आ रही थी। सन्त और मेरे दूसरे परिचित पर पूरा नशा चढ़ा था। खड़े हुए व्यक्ति से वे पीने के लिए और लाने की बातचीत कर रहे थे। कोई भी बातचीत करना अनुचित समझ कर मैं बाहर आ गया। उनसे मैं बात करता भी क्या?

आप इन्हें यूं मीट और शराब उड़ाते देख कर यह न सोचें कि इनके बाकी सब ठीक चल रहा है। मैं जानता हू, इन्होंने तो आज जरूर मीट के साथ रोटी खाई है, लेकिन बच्चों के लिए तो शाम की सब्जी भी शायद इनके घर नहीं होगी। वे तो मिर्चों की चटनी के साथ रोटी खाएंगे और ये भी तो कौन सा रोज मीट उड़ाते हैं।

हां! यह सन्त तो रोज कोई न कोई नया चेला मूंडता होगा और मीट-शराब उडाता होगा। इन लोगों की भक्ति को भी मान गए। ये सन्त भी तो बड़े धूर्त हैं। आस्तिक इन्हें कोई मिल जाए तो ये आस्तिक हो जाते हैं, नास्तिक का साथ हो जाए तो नास्तिक हो जाते हैं। मांसाहारी को मांस अच्छा बता दिया। शाकाहारी के आगे मांस को गालियां निकाल दीं। ये जिधर भी हवा का रुख होता है उधर बह जाते हैं।

खीज कर कुछ जल्दी ही लौट पड़ता हू। वक्त है, इसलिए चमचमाती बिल्डिंग देखने के लिए उतर पड़ता हू। भीतर तक हो आता हू। दो-तीन लम्बे-चौड़े हाल हैं। कई कमरे हैं। बरामदे और गलियारे तो हैं ही। सारी बिल्डिंग की खिड़कियों पर शीशे लगे हैं, दरवाजों पर अच्छे रंग-रोगन किए लकड़ी के किवाड़ हैं, यानि सब कुछ एकदम शानदार है।

अभी थोड़ी दूर चलकर आगे आता हू तो रास्ते मे सड़क की मुरम्मत करने वाले मजदूरों का पड़ाव लगा देखता हू। जाते वक्त गया था तो ये यहा नहीं थे। शायद अभी पीछे से सडक की मुरम्मत करके लौटे हैं। अब आगे सडक की मुरम्मत करेंगे, इसीलिए यहा पडाव डाल रहे हैं। छोटे-छोटे और फटे-पुराने तम्बू ताने जा रहे हैं। टूटी-फूटी सरकिया तानी जा रही हैं। सोचता हूं—इतनी सर्दी मे तो मकानो के भीतर भी ठड लगती है और ये फटे-पुराने तम्बुओं में...।

तभी मेरे मस्तिष्क मे वह चमचमाती हुई बिल्डिग कौंधती है। सदियो पुरानी सभ्यता और सस्कृति के बचाव के लिए तो वह बिल्डिग और अपनी इस जीती-जागती सभ्यता के लिए शायद कही कोई घर नही। मुझे इन चिथडा जिन्दगियों के बीच वह बिल्डिग ठीक उस हरामी टोले सी लगती है।

आप कहेंगे प्राचीन वस्तुओ को तो संरक्षण प्राप्त होना ही चाहिए। बेशक होना चाहिए, लेकिन आज जो जीवित है उसे भी तो सर्दी मे ठिठुरना न पड़े, यह भी तो होना चाहिए। इन्ही लोगों मे से ही तो ठड या भूख से मरते हैं। लोग और हम उन्हें किसी और ही वजह से मरने का फतवा दे देते हैं। चलो, इनके लिए मकान न सही! इनके तम्बू और झोंपड़िया तो साबुत होनी चाहिएं और इस सर्दी को झेलने के लिए अच्छी खुराक भी।

# देशी लोगों के ये विदेशी से कर्मचारी

यह दृश्य भारत के किसी भी बड़े गांव के बस अड्डे का हो सकता है। हां तो यह एक गांव का बस अड्डा है। इसके एक तरफ हाई स्कूल है। उसके समानान्तर 'वाटर-वर्क्स' है। पास ही डिस्पेन्सरी, डाक-तारघर और बैंक है। बस अड्डे पर चाय की दुकान है। चाय वाले ने पकौड़ियां ... निकाल रखी हैं। अच्छी-खासी भीड़ जुड़ी है। यह अड्डा दो-तीन ... का अड्डा है।

चाय ... के इर्द-गिर्द जो भीड़ है, वह सरकारी कर्मचारियों की ...मास्टरनियां, डिस्पेन्सरी के कम्पाउण्डर-नर्स, पोस्ट ... आदि। सब शहर से रोज आते हैं और जाते हैं। ... ही नहीं, पड़ौसी गांवों के कर्मचारी भी रोज इसी ... हैं।

... थोड़ी दूर पर दूसरी भीड़ है तादाद में ज्यादा, ..., अनपढ़ लोगों की भीड़। इनमें हैं, मध्यम ... भूमिहीन किसान। बड़े-बड़े किसान अड्डे ... और शक्ति बर्बाद नहीं करते। उन

... भी, लेकिन एक तरफ जो भीड़ है यह ... में कहकहे लगा रही है, उनके ...

... की सारी वेदना नजर

है। न तो उनके वस्त्रों मे चमक है और न ही आंखों में। इनमें कोई बीमारी का मारा है तो कोई मुकदमे का। किसी को बेटी की सगाई की चिन्ता है तो किसी को अपने मृत बुजुर्ग के पीछे ओसर करने की चिन्ता लगी है।

इनके बीच मे बातें हो रही हैं, तेल की किल्लत की, फसल को पाला मार जाने की, आंधी-तूफान से हुए नुकसान की या नहर मे पानी सूख जाने की। दोनों प्रकार की भीड़ मे मुझे स्पष्ट भेद नजर आ रहा है और इसके साथ ही याद आ रहा है डा० राम मनोहर लोहिया का वह कथन जिसके अनुसार भारत का चपरासी भी अमीर वर्ग मे आता है।

इस अमीर वर्ग को और भी अमीर करने के लिए सरकार अपनी ओर मे कोई कोर-कसर नहीं छोडती। छोडे भी क्यू? पैसा कौन सा उसकी जेब से जाता है? पैसा तो टैक्सों के रूप मे इस भेड हुई जनता की जेब से जाता है और इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि बढी हुई तनख्वाह का पूरा लाभ इस कर्मचारी वर्ग को भी नही मिल पाता। व्यापारी वर्ग को ज्यो ही पता चलता है कि तनख्वाहें बढ़ रही हैं, वह कीमतें बढ़ा देता है। मारा जाता है बेचारा मेहनतकश, क्योंकि वह सगठित नहीं है। वह सत्तानशीनो के खिलाफ कोई आन्दोलन खड़ा नहीं कर सकता। यह सब तो कर्मचारी वर्ग ही कर सकता है, इसलिए आये दिन ही उनकी महगाई बढ़ रही है।

वेतन बढ़ाने से कर्मचारी वर्ग अगर जनता की सेवा करता तो भी कोई बात बनती। ज्यो-ज्यो वेतन बढ़ाया जा रहा है, कर्मचारी वर्ग जनता से दूर हटता जा रहा है। अगर उसे जनता से प्यार होता तो वह मंहगाई भत्ता बढ़ाने की माग को लेकर सघर्ष करने की बजाय महगाई कम किए जाने की मांग को लेकर सघर्ष करता। गाव से भाग कर शहर जाने की बजाय गाव मे ही ठहरता और गाव वालों के सुख-दुख मे शरीक होता। लेकिन नही, वह अपने इर्द-गिर्द ऐसा दायरा खींच रहा है कि उस तक जनता न पहुंच सके। किसी अमीर के पास गरीबी

सकते थे क्या ?

यह ठीक है कि ये कर्मचारी अब भी किसी बड़े सेठ या मिल का मुकाबला नहीं कर सकते, लेकिन हमें अपने से नीचे वालों को मदद करनी चाहिए।

आदमी कितना बड़ा होता है कि इतने बड़े-बड़े महल बना जाता है और एक आदमी इतना बौना कि अपने सिर पर ढंग की छाया भी नहीं कर सकता।

लगता है कि कुछ आदमी दूसरों के सिर की छाया छीन लेते हैं, तभी तो उनके सिर की छाया घनी हो जाती है।

# दुनियां खेल-कूद की

खेल किसका प्यारा शब्द है? बच्चे से लेकर बूढ़े तक कौन ऐसा है जो खेलना नहीं चाहेगा? खेलने का अर्थ है सारी चिन्ताओं से मुक्त होना। किन्तु चिन्ताओं से ही क्यों? सब प्रकार की मलिन भावनाओं से भी हम मुक्त हो जाते हैं, लेकिन अपने यहां या तो बच्चे खेलते हैं या फिर थोड़े-बहुत विद्यार्थी, शेष लोग तो अभावों, कठिनाइयों और कुंठाओं से खेलते हैं।

मेरे छोटे से कस्बे में जिले भर के माध्यमिक विद्यालयों की फुटबाल और कबड्डी की प्रतियोगिता का उद्घाटन आज हुआ। खिलाड़ियों से ंदान भरा था। अधिकतर चुस्त और सेहतमंद थे। उनके बीच पर तो ानी कमजोर सेहत का बड़ा रंज हुआ। एक बार तो जी में आया कि ा रात-दिन लिखने-पढ़ने के फिक्र में पड़े रहते हैं? क्यों नहीं कभी स खेल की दुनिया में पांव रखते? दूध-घी ज्यादा खाने का विचार भी ाया, लेकिन विचार को व्यवहार में लाने का हाल यह है कि सुबह स पढ़ने-लिखने को कम करने का इरादा था वह अब दोपहर में टूट ा है और मैं यह रचना लिखने बैठ गया हूं। घर में दूध ज्यादा मंग- की बात भी पत्नी के आगे चलाई है, लेकिन पत्नी ने एक बार तो ही दिया है। आगामी कुछ दिनों में देखा जाएगा। उद्घाटन

आपस में भिड़ गयीं। उनकी चुस्ती-फुर्ती देखते ही बनती

मैदान में कई खिलाड़ी हिरणों की तरह छलांग लगा रहे

से चुस्ती फूट रही थी। हिम्मत वालों के विकलांगता

भी कहां आड आती है ? एक खिलाड़ी एक हाथ का मालिक था, फिर भी किस तरह से विरोधियों को मार-मार कर आ रहा था। दर्शक कह रहे थे इसे तो देवी का वरदान है। खिलाडी जैसा दर्शक चाहते थे वैसा ही खेल दिखा रहे थे।

मैं उन्हें देख कर सोच रहा था कि जितनी ऊर्जा इन विद्यार्थी खिलाड़ियों में है, उतनी कभी मेरे अंदर भी हुआ करती थी। हाई स्कूल में पढ़ता था जब मैं भी फुटबाल और हाकी खेला करता था। हालांकि हमें कभी स्कूल से बाहर खेलने के लिए नहीं ले जाया गया, फिर भी खेल के प्रति मेरे समर्पण भाव को देख कर खेल के मैदान में हमारे हैडमास्टर 'कोड़ा साहब' ने कहा था—'तू जरूर कुछ न कुछ बनेगा।'

उनके कथन को याद करता हूं तो सोचता हूं कि क्या उन्होंने उस समय यह सोचा था कि मैं हिंदी का छोटा-मोटा लेखक बन जाऊंगा ? लेकिन नहीं ! खेल और लेखन का क्या मेल है ? फिर उस समय तो मैं अध्यापकों के लिखाए लेख भी याद करके बड़ी मुश्किलों से लिख पाता था। फिर भी उन्होंने कैसे जान लिया कि मैं जरूर कुछ न कुछ बन ही जाऊंगा। शायद उन्होंने मेरे खेल के प्रति समर्पण भाव को देख कर ही यह ताड़ लिया था कि यह लड़का जो भी काम हाथ में लेगा, उसको पूरी लगन से एक सिरे चढ़ा कर ही छोड़ेगा।

खिलाड़ी स्वयं भी तो सर्जक है। वह अपना इतिहास बनाता है। अपने और दर्शकों के कलित विचारों को मूर्त बनाता है। आदर्श का कीर्तिमान बनाता है। वह अन्य लोगों में खेल-कूद के प्रति आकर्षण भी पैदा करता है, इसलिए उसे अच्छा सर्जक माना जा सकता है। और जो अच्छे सर्जक होंगे, मेहनतकश होंगे, वे कुछ भी तो बन सकते हैं। शायद यह भी सोचा होगा मेरे हैडमास्टर ने।

खेल की समाप्ति पर कई खिलाड़ियों को मंच से पुरस्कृत हुए कराते देख कर मन प्रसन्न भी हुआ। यह ठीक है कि आज के दिन इनके शरीर

में ओज है, लेकिन यूं तो ये अपना ओज कुछ ही दिनों में फूंक देंगे। सवाल उठता है कि इनमें इतनी समझ कैसे पैदा की जाये?

अपने बच्चों को अच्छा खिलाड़ी बनाने के इरादे घड़ता हुआ मैं घर लौट आया था। मेरी नियति यही थी।

# पैदल चलने के फायदे

गांव मोजगढ गया हुआ था। मुझे रास्ते मे पड़ते डेढ़-दो मील दूर गांव कल्लर खेड़ा मे अपनी बहन से मिल कर श्रीगंगानगर के लिए बस पकड़नी थी। सुबह चलने को हुआ तो बड़े भाई ने बस से चले जाने की सलाह दी और भतीजो ने साइकिल पर छोड़ आने का आग्रह किया, लेकिन मैंने उन सबको टाल दिया और चल पड़ा। पक्की सड़क पर आते ही काशी डकोत मिल गया। वह हाथ मे डंडा लिये हुए था तो मैंने पूछ लिया—'सुबह-सुबह किधर डंडा उठा कर चल दिये?'

'खेत पर जा रहा हू।'

मैंने हैरान होते हुए पूछा—'तुम्हारे खेत कब से?'

मैंने काशी डकोत को सदा गाव मे बड़े किसानों के ट्रैक्टर-जीप चलाते या कपड़े सीलते देखा था, लेकिन उसने मेरी आशा के विपरीत जवाब दिया—'हैं, खेत हैं, मेरे भी।'

'क्या कोई हिस्से-ठेके पर ले रखा है या अपना खुद का बना लिया?'

'खुद का ही बना लिया।'

'क्या खरीद लिया?'

'नहीं, खरीद तो मैं क्या खाक लेता? यू ही समझो।'

बाद में खोदने पर उसने बताया कि गाव मे दो बड़े किसानों की उनके बड़े खेतों से हटकर दो-दो किले जमीन बंजर पड़ी थी। वो न तो उसकी गौर करते थे और न खेती। मैंने कहा तो मान गये। मैंने जमीन

में शौक है, लेकिन स्कूलों के अपना शौक कुछ ही दिनों में खत्म
सवाल उठता है कि इनमें इतनी समझ कैसे पैदा की जाये?
अपने बच्चों को अच्छा सिपाही बनाने के इरादे पढ़ा हुआ मैं
और आया था। मेरी स्थिति यही थी।

करती थी, वहां अब महरी हाडी के सेत लहरा रहे थे। खेतो की नालियां पक्की हो चुकी थी। छोटी नालियां जरूर कच्ची थी, जो मेरी बचपन की यादों से मेल खा रही थी।

दिन अभी थोड़ा सा ही ऊपर चढ़ा था। काशीराम ने मुझे सड़क पर जा चढ़ने का रास्ता सुझा दिया। उससे विदा होते हुए मैंने पूछा—'क्या अब गांव जाओगे?'

'हां!'

'दिन मे क्या करोगे?'

'सिलाई।'

काशीराम सिलाई और चार 'किले' की खेती पर ही खूब प्रसन्न था। मैं कम्बल ओढ़े था, लेकिन उसे चादर-कमीज मे भी सर्दी नही लग रही थी। वह रास्ते मे मस्ती मे आकर भजन गुनगुना रहा था। अब मैं काशीराम के बारे मे सोच रहा था कि ऐसी मस्ती मेरे पास क्यू नही? सरकारी नौकरी मे हू। इसकी तरह कब्जे की दस किले जमीन मेरी भी है, लेकिन ऐसी मस्ती और मुझसे दस वर्ष बड़ा होते हुए भी इतनी जवानी कि सर्दी पास नही फटकती?

काशीराम के बताये रास्ते से चल कर मैं सड़क पर पहुंच गया। काशीराम का खेत देखने पर मुझे मामूली सी 'उलाई' नजर दी लेकिन उस थोड़ी सी 'उलाई' मे मुझे इतना कुछ दे दिया था कि मैं [illegible] हो गया था।

मैं सड़क-सड़क चल रहा था कि पीछे से दो [illegible] दूध की टंकियां लिए मेरे पास से गुजरे। मैंने उन्हें पहचान लिया था। [illegible] उन्होने नही। तभी तो उन्होने मुझे बुलाया नहीं। [illegible] ही के एक [illegible] पर रुक गये। [illegible] के दूध लेने के लिए [illegible]। मैं [illegible] उन्होने पहचान और 'राम राम' की। [illegible] एक [illegible] मुझसे के [illegible]। उनके [illegible] चाल पूछ कर मुझे अच्छा लगा। [illegible]

जोत-संवार ली तो पानी की बारी बंध गई। मेरे दूसरी पार्टी का होने के कारण बाद मे एक ने तो अपनी जमीन छुडानी भी चाही, लेकिन मैंने तहसीलदार को मौका दिखाकर गिरदावरी अपने नाम करवा ली। इस प्रकार मेरे खाने लायक दाने हो जाते हैं।

उसका खेत मेरे रास्ते में ही पड़ता था, इसलिए वह सड़क-सड़क मेरे साथ ही चल रहा था। काफी आगे आने पर उसने अपने खेत का कोठा बताया। सड़क से कोई ज्यादा दूर नही था। सबसे बड़ी बात यह कि उसका खेत हमारे पुराने खेत का ही टुकड़ा था। ... चौबीस-तीस वर्ष पहले हुई मुरब्बाबदी में वह ... लेकिन उस खेत की याद मेरे जहन में बुरी ... मे उस जगह पर जाने की बड़ी ...

सप... कई बार गया ...

साइकिल

पैदल

था

इस

मे

?

जोत-संवार ली तो पानी की बारी बंध गई। मेरे दूसरी पार्टी का होने के कारण बाद मे एक ने तो अपनी जमीन छुड़ानी भी चाही, लेकिन मैंने तहसीलदार को मौका दिखाकर गिरदावरी अपने नाम करवा ली। इस प्रकार मेरे खाने लायक दाने हो जाते हैं।

उसका खेत मेरे रास्ते में ही पड़ता था, इसलिए वह सडक-सडक मेरे साथ ही चल रहा था। काफी आगे आने पर उसने अपने खेत का कोठा बताया। सड़क से कोई ज्यादा दूर नही था। सबसे बड़ी बात यह कि उसका खेत हमारे पुराने खेत का ही टुकड़ा था। आज से पच्चीस-तीस वर्ष पहले हुई मुरब्बाबंदी मे वह खेत हमसे छूट गया था, लेकिन उस खेत की याद मेरे जहन मे बुरी तरह समाई हुई थी। मेरे मन में उस जगह पर जाने की बड़ी साध थी। सच कहता हूं उस जगह पर नीद के सपनों मे मैं कई बार गया भी।

बस से और साइकिल से तो यहां से कई बार गुजरा हूं, लेकिन यूं किसी के साथ पैदल थोड़ा फुर्सत में कभी नही निकला। आज मुझे सुनहरी मौका मिला था। मैंने पुलक कर कहा—'चलो यार! तुम्हारे खेत देखते हैं।' इस प्रकार मैं काशीराम के साथ उसके खेत में पहुंच गया। वास्तव में काशीराम का खेत देखने के बहाने मैं अपना खेत देख रहा था। काशीराम का सम्बल न मिलता तो मैं फुर्सत होने पर भी वहां कभी न जा पाता। डर था कि कही कोई यूं आवारा फिरता देख लेगा तो क्या कहेगा?

काशीराम भी जानता था और मैंने उसे बताया कि कभी यह जगह हमारी हुआ करती थी। आज लगभग तीस वर्ष बाद इस जगह पर मेरे पांव पड़े हैं। यद्यपि खेत काफी बदल चुका था। पुरानी कोई पहचान नही बची थी। सिवाय थोड़ी सी बंजर भूमि के और एक-दो छोटे बेर जो वहां दिखाई दिये, यहां कभी बड़े-बड़े बेर होते थे और उनमें हिरणों की खोह थी। मुझे सब कुछ याद हो आया। बचपन की उस पुरानी याद को याद करके मुझे बड़ा सुकून मिला। जहां हमारी बिरानी हाड़ी

हुआ करती थी, वहाँ अब गहरी हाड़ी के खेत लहरा रहे थे। खेतों की मेन नाली पक्की हो चुकी थी। छोटी नालियाँ जरूर कच्ची थीं जो मेरी बचपन की यादों से मेल खा रही थीं।

दिन अभी थोड़ा सा ही ऊपर चढ़ा था। काशीराम ने मुझे सड़क पर आ चढ़ने का रास्ता सुझा दिया। उससे विदा होते हुए मैंने पूछा—
'क्या अब गाँव जाओगे?'

'हाँ।'

'दिन में क्या करोगे?'

'सिंचाई।'

मुश्किल से ठहर पाता हूं। इस प्रकार तीन भाइयों से मिलना भी मुश्किल हो जाता है। गांव और कुनवे के लोगों से तो मिले ही कौन? अब अगर पैदल न चल रहा होता तो शायद इनसे भी मिलन न होता।

थोड़ा सा आगे गया तो कल्लर खेड़ा गांव का मेरा एक सहपाठी मिल गया। वह 'स्कूटरी' पर कहीं जा रहा था। मुझे देख कर रुक गया। मैंने उसे 'उत्थान' की प्रति दी तो वह बड़ा खुश हुआ। कहने लगा—'मुझे भेज दिया करो। चंदा भेज दूंगा।' कल्लर खेड़ा अब सामने दिखाई देने लगा था। मैं चलता हुआ पैदल चलने के फायदे सोच रहा था।

# मंत्री आगमन

हां। पीली कमीज वाले आप बताइये।'

मैं काफी पीछे खड़ा था और सोच रहा था कि मंत्री जी जो उनके पास कुर्सियों पर बैठे हैं उनसे यह प्रश्न क्यों नही पूछ रहे? क्या उन्हें अपने विधायको और समर्थकों की बुद्धि पर विश्वास नही? क्यों उन्हें भी प्रतिभा सिर्फ खड़े लोगों में ही नजर आ रही है?

शीघ्र ही खड़े लोगों मे थोड़ी खुसर-फुसर हुई जिसे कुर्सी पर बैठे लोगों ने सुन लिया और उनमें से एक ने मंत्री जी को जवाब दे दिया। मंत्री जी बोले—'हां आपने ठीक कहा। दो हाथ इसलिए दिए है कि, अधिक से अधिक काम करो। अधिक से अधिक देश और समाज की सेवा करो। खाओ कम।'

इतना सुनते ही खड़े लोगो मे से एक आदमी हाथ हिला-हिला कर कहने लगा—'ऐसा कोई नही है। ऐसा कोई नही।'

मंत्री जी भी कच्ची गोलियां नही खेले थे। उन्होंने उसे आड़े हाथों लिया और कहा कि आदमी अपने दोनों हाथ कब उठाता है? जबकि वह हार जाता है। हार जाना कोई अच्छी बात नही। यू बोखलाने से कुछ नही होगा। वह आदमी बेचारा खिसिया कर बैठ गया।

मेरी दिलचस्पी जागी, लेकिन वह अधिक देर तक टिकी न रह सकी, क्योंकि उन्होने शीघ्र ही भारत के महान होने और स्वतन्त्रता-प्राप्ति में अपने योगदान की सराहना शुरू कर दी। तभी उन्होने कहा कि मैं इस आजादी से संतुष्ट नही हूं। इतना सुनते ही मैं चौकन्ना हुआ। मंत्री जी ने बात आगे बढ़ाई कि अभी हमें आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है। आर्थिक आजादी प्राप्त करना अब इतना कठिन नही है जितना कि राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना था, क्योंकि तब तो विदेशी लोगों का शासन था और अब अपने ही लोगों का शासन है।

मुझे आशा बंधी कि मंत्री जी अब तो अवश्य ही कोई चामत्कारी नुस्खा बताएंगे जिससे आर्थिक आजादी हासिल हो ही जाएगी। मुझे इस बात की भी कोई कम हैरानी नहीं थी कि एक सत्ताधारी आदमी

आर्थिक आजादी की हिमायत कर रहा था। वह मुझे इस आजादी का सच्चा दूत नजर आने लगा। मैं हैरान हुआ कि जब सत्ता में ऐसे-ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं तो फिर यह आर्थिक आजादी आ क्यों नहीं रही ? कहा अटकी हुई है ?

लेकिन तभी मेरे सिर पर घड़ो पानी पड़ गया जब मंत्री महोदय ने आर्थिक आजादी का आधार सहकारिता को बताया। मंत्री जी सहकारिता की प्रशंसा मे पुल बांधने लगे। शायद मंत्री जी लोगो की इस धारणा से परिचित नही थे कि सहकारिता का मतलब होता है—'कुछ लोगो को अपने साथ मिलाओ और फिर खूब खाओ। मौज उडाओ।' मंत्री जी बिचौलियों को समाप्त करने की बात कह रहे थे और मैं सोच रहा था कि फिर क्या नये बिचौलिए नही आ जाएंगे ? बनियो की जगह नेता नही ले लेंगे ?

मंत्री जी से मुझे अब कोई उम्मीद नही रही थी। इसलिए मे चला आया। बाहर आया तो उनके स्वागत मे लगे कपडे के बड़े-बड़े बैनरो पर मेरा ध्यान गया। मैंने सोचा—बड़े भूपतियो के विरुध तो कुछ न कह सके सो तो न सही, मंत्री जी इन बडे-बडे बैनरो के विरुद्ध तो कुछ कह देते। हम समझ लेते कि मंत्री जी कुछ न कुछ तो जरूर आर्थिक आजादी के पक्ष मे हैं।

मैं घर आकर सोचने लगा कि मंत्री अगर हरिजन कल्याण मंत्री होता तो आरक्षण को आर्थिक आजादी का आधार बताता और आवास मंत्री होता तो हरिजन का कालोनियो की वकालत करता।

# कितनी निष्ठा !

दिन भर हवा चलती रही थी। इसलिए फरवरी माह के बावजूद भी ठण्ड काफी है। जर्सी पर कम्बल ओढ़ कर, कानों पर मफलर लपेट कर मैं रात का खाना खाकर, नाटक देखने के लिए निकला हूं। शाम को घर लौट रहा था तो बाजार में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के लाल झण्डों के नीचे जन नाट्य मंच हनुमानगढ़ का एक बैनर लगा देखा था। पास खड़े कामरेड हेतराम से पता चला कि रात को नाटक मण्डली नाटक पेश करेगी। नुक्कड़ नाटक की शैली से मैं परिचित था, इसलिए नाटक के अच्छा होने की पूरी उम्मीद थी।

सचमुच ही मुझे मंच पर आशा से कहीं ज्यादा मिला। आम आदमी को शिक्षित करने की उनकी शैली बड़ी सुन्दर और रोचक थी। आम बोलचाल की भाषा में बड़ा सहज अभिनय हो रहा था। जो सिर्फ फिल्में ही देखते हैं, इतने सहज स्वाभाविक अभिनय का अन्दाज भी नहीं लगा सकते। वे सरकार और भगवान के छद्म वेश को जनता के सामने बड़े रोचक ढंग से उघाड़ रहे थे। सुन-सुन कर और देख-देख कर मैं अभिभूत हुआ जा रहा था। मैं ही क्या? पीलीबंगा के हजार-डेढ़ हजार उपस्थित बैठे थे। सब मंत्रमुग्ध। सचमुच इतने आदमी यहां कभी सत्तारूढ़ पार्टी के बड़े से बड़ा नेता के पधारने पर भी नहीं जुड़ते।

थोड़े से ऊँचे मंच की ओट में कलाकार ड्रैस बदल रहे थे। इतनी सर्दी में जब मैंने उन्हें ड्रैस बदलने और नाममात्र के कपड़ों में अभिनय करते देखा तो मैं बड़ा प्रभावित हुआ।

एक कलाकार को घुटनों से काफी ऊपर तक बंधी एक धोती में ही घंटे भर तक अभिनय करना रहा। उसका बाकी का सारा शरीर नंगा था। वह जनता का ध्यान कर रहा था।

कल-परसों जब हम हनुमानगढ़ के एक लेखक सम्मेलन में थे तो अपने भाषणों में कवि लेखक सवाल उठा रहे थे कि इतने प्रयासों के बावजूद भी अच्छाई सिद्ध नहीं है। बदलाव नहीं आ रहा है। फिर साहित्य में आम आदमी की बदहाली का रोना रोते क्या या प्रतिबद्ध साहित्य लिखने का क्या फायदा है? अच्छाई दिखावटी ही योग्य है।

यहां तो उन भवाइयों की अपने काम के प्रति निष्ठा और वहां इन जनकलाकारों की निष्ठा। इतनी ठंड में इतनी दूर चल कर ये लोगों को कुछ सिखाने आए हैं। सबके सब काम-धन्धे वाले हैं, इसलिए सुबह अपने अपने काम-धाम पर भी पहुंच जाएंगे। उसका भी हर्जा नहीं होने देंगे। धन्य हैं ये युवक।

मैं अपने आप को इन कलाकारों के आगे बहुत बौना पा रहा हूं। एक तो इस मायने में कि मैं जो भी लिखता हूं गर्म और नर्म बिस्तर पर बैठकर लिखता हूं। इनकी तरह कभी भी इतनी तकलीफ मैंने नहीं उठाई। दूसरा मेरा आम आदमी से इतना सम्पर्क नहीं हो पाता जितना कि इन कलाकारों का है। हम साहित्यकार आम आदमी से जुड़ने की बातें तो बहुत करते हैं, लेकिन इस तरह से आम आदमी से कभी जुड़ते नहीं हैं।

# बुड्ढा पीपल

अबोहर अंचल के हमारे गाव मौजगढ की गिनाणी (कम गहरा तालाब) काफी याद रहने लायक चीज है। हम छोटे-छोटे थे तब भी निःसंकोच वर्षा ऋतु मे इसमे नहाने के लिये घुस जाते थे। वर्षा के बाद
ी सूख जाया करती थी और हम इसे खेल के मैदान के रूप
क्या करते थे। लोग-बाग डिग्गी और जोहड़ पर पहुचने
बना लेते थे।

की याद आती है तो इसके साथ ही याद आती है इसके
ो की। इसके किनारे कई पीपल और एक-दो सरेष
के भाईचारे की कमी आ जाने के कारण यद्यपि
कोई नही बैठता। लोग अपने पशु भी इनके नीचे
उन दिनो में गाव के जीवन में इन दरख्तों का
के मौसम मे सब के मवेशी इनके नीचे बैठते थे।
मां इनके नीचे बिछा लेते थे। हम बच्चे
तरह के खेल खेलते थे। काफी छोटे थे, तभी
से खिलौने बनाया करते थे। मुझे याद है
इन दरख्तों के नीचे पहुंच जाया करता था।
पंचायत भी इनके नीचे जुड़ती थी और
ही लोगों को बुला लिया करते थे।
, जिसे हम 'बुढ़िया' पीपल कह कर,
यह टूट-टाट कर काफी छोटा

गया था। फिर भी वह आज तक अपना अस्तित्व बनाए हुए है। उस पीपल की याद आती है तो गांव के एक व्यक्ति तुलछाराम की याद भी अपने आप आ जाती है।

वह जब भी इस पीपल के नीचे से गुजरता था तो बिलकुल पागलों की तरह बडबडाने लगता था। उसकी बडबडाहट का विषय गांव का सबसे बडा चौधरी होता था। संयोग यह भी था कि चौधरी की हवेली इस पीपल के ऐन पास थी। चौधरी हवेली मे होता, अथवा नहीं वह हवेली की ओर मुंह करके विभिन्न मुद्राएं बना कर उसको ललकारता रहता था। अपनी इस बडबडाहट मे वह चौधरी को सदा छोटे नाम से ही बुलाता था। मामूली सी गालियां भी उसके मुंह से निकलती रहती थी। गनीमत यह थी कि चौधरी इन गालियो का बुरा नही मानता था!

अधिकतर तुलछाराम का उधर से निकलना भैंसो को पानी पिलाने के लिए होता। वह उस पीपल के नीचे आते ही बडबडाना शुरू कर देता था और जोहड पर भैंसो को पानी पिला कर वापिस घर पहुंचने तक उसी तरह से बडबडाता रहता था।

गांव के बडे-बूढ़े हमे उसके पागलपन का कारण बताया करते थे कि आजादी से पहले अंग्रेजो के जमाने में इस पीपल से बांध कर चौधरी ने एक हरिजन परिवार को इतना पिटवाया था कि उसकी हालत देख कर तुलछाराम पागल हो गया। अब जब भी तुलछाराम इस जगह से गुजरता है तो अपनी बडबडाहट में चौधरी को शामिल कर लेता है, जैसे कि वह चौधरी को लानतें दे रहा हो।

उस हरिजन परिवार की चौधरी से बनती नही थी। गरीब थे तो क्या? वे तीन-चार भाई पूरे लठैत थे। चौधरी के बराबर अड़े रहते थे। किसी बात मे उनसे दबते न थे। यह बात चौधरी को खटकती थी कि एक दिन जब उनके दो भाई बाहर थे और एक-दो घर मे सोए थे तो चौधरी के आदमियो ने उन्हें घर-दबोचा। उन्हें इस पीपल से बांध कर इतना पीटा कि उनकी विभिन्न हड्डियां चमडी के भीतर टूट गईं।

नरम दिल वाला तुलछाराम उन्हे देख कर पागल हो गया। फिर जब तक जिया तब तक अपनी बड़बड़ाहट में चौधरी को लानतें देता रहा।

हमारे गांव के इस इतिहास का और कोई महत्व न हो, हमारे सामने यह स्पष्ट कर देता है कि उस जमाने मे गरीब लोग बडे लोगो से लट्ठों की लड़ाई लड लेते थे, लेकिन इस आजादी मे तो गरीब इनके साथ लट्ठों की लड़ाई तो क्या वोटो की लड़ाई भी नही लड़ सकते। चुनाव भले सरपंच का हो या एम.एल.ए. का, बडे लोगो के बीच ही लडा जाता है। पचायत मैम्बरी का चुनाव तो छोटे लोगों को इसलिए लड लेने दिया जाता है कि बडे इसको अपने अनुरूप नही समझते।

लाठी को तो अब लोगो ने रखना ही छोड़ दिया है। बेचारी की बंदूक, पिस्तौल के आगे औकात ही क्या है?

# नाना रूप धरे

याद आ रहा है कि पहले दिन उन्हें मैंने लुहार-लुहारी के भेष में देखा था। उनकी भेष भूषा और भाषा से उन्हें बहुरूपिया समझना कठिन था। पहली बार तो यही दिमाग में आया कि ये वास्तव में लुहार-लुहारी है, लेकिन ये काफी देर तक प्रदर्शन करते रहे तो वास्तविकता समझ में आई।

दूसरे दिन उन्हें पठान-पठानी के भेष में देखा। उस दिन भी उनकी कला कमाल की थी। भिखारी के रूप में जब एक दिन वह मेरे एक मित्र की दुकान पर गया तो मित्र ने सचमुच ही उसे भिखारी समझा और पैसा देने लगा, लेकिन वह तो भिखारी था नहीं, था बहुरूपिया, इसलिए पैसा लेने से इन्कार कर दिया और आगे बढ़ गया। मित्र एक बार तो ठगा सा रह गया। अगली दुकान पर उसे फिर उसी प्रकार करते देख कर मित्र के वास्तविकता समझ में आई।

कला तो उनकी बहुत बड़ी है, लेकिन आज कलाकारों की कदर कहा होती है? उसके हाल-चाल पूछने जब मैं उनके तम्बू पर गया तो वह मेरे ही हाल-चाल पूछ बैठा—'आपको हमारे पर लिखने से क्या मिलेगा?'

मैंने कहा—'अगर लेख छप गया तो यही कोई सौ-पचास मिल जाएंगे।'

उसने कहा—'बस इतने से के लिए काहे को इतनी तोहमत उठा रहे हो और काहे को हमे टटोल रहे हो?'

बात उसकी सच्ची थी। फिर भी जब मैं चला ही गया तो कुछ मांगे घर ही आया।

वह मुझे अपने पेशे से सन्तुष्ट नजर नहीं आया—'इतनी महंगाई के युग में साहब क्या होता है? पहले जितनी कद्र भी अब नहीं रही।'

सचमुच ही उसकी कोई अच्छी हालत नहीं थी। उसकी फटी-पुरानी कमीज में कई पैबन्द लगे थे। पौष्टिक आहार न मिलने से उसके बच्चे मरियल थे। उनकी प्रत्येक चीज से बदहाली स्पष्ट नजर आ रही थी।

लौटते हुए रास्ते में जब मैं उनकी बदहाली का कारण ढूंढने लगा तो मुझे उनकी बदहाली का सबसे बड़ा कारण रुपये का अवमूल्यन नजर आया। जब मैं छोटा था तो हमारे गांव में भी बदरी नामक एक भांड आया करता था। हम बच्चे उसके स्वांग को देख कर बड़े खुश होते थे। वह तो लंगूर बन कर रात को सोते हुए लोगों को डरा दिया करता था। गनीमत यह होती थी कि वह शीघ्र ही खड़ा होकर बोल जाता था।

आखिरी दिन जब वह आता था तो पिता जी उसे एक रुपया इनाम-स्वरूप देते थे। वह खुश हो जाता था। गांव में काफी लोगों के द्वारा एक-एक रुपया देने पर उसका गुजारा अच्छा हो जाता था। लोग अपनी पुरानी आदत के मुताबिक आज भी वही एक रुपया देते हैं, लेकिन आज के रुपये में और उस समय के रुपये में कितना अंतर आ गया है, यह कोई नहीं देखता।

एक कला इस संसार से विलुप्त न हो और कुछ गरीब परिवारों का इस कला के द्वारा किसी तरह गुजर होता रहे, इसके लिए हमें कुछ सोचना और करना चाहिए। बहुरूपिया चूंकि लोगों के मध्य जाता है और उन्हीं से अपनी आजीविका कमाता है, इसलिए इस कला को हम 'लोक कला' कह सकते हैं। इस प्रकार यह कला केवल लोगों के द्वारा ही जीवित रखी जा सकती है। अगर हमारी सरकार और कला अकादमियां भी उनके लिए कुछ कर सकें तो और भी अच्छा है।

हो सकता है, कुछ आधुनिक दिमाग वाले लोग बहुरूपिये को देख कर नाक-भौं सिकोड़ें, लेकिन उन्हें यह नही भूलना चाहिए कि यह कला आज भी बच्चो, कम पढ़े-लिखे कस्बाई लोगो और अनपढ़ ग्रामीणों के लिए बहुत बडी है।

उनका इससे मनोरंजन होता है। उनके नीरस जीवन मे यह कला रस घोलती है।

# वे अजीबोगरीब

हर शहर, हर गांव में कई अजीबोगरीब आदमी हुआ करते हैं। हमारे गांव में भी आज से बीस-पच्चीस साल पहले ऐसे दो-तीन व्यक्ति थे। एक गूंगा था। नाम था महतावा। वह एक बड़े किसान के यहां बंधक था। तब हम काफी छोटे थे और हमें उसके आने के बारे में कुछ भी पता नहीं था। हमने बड़े-बूढ़ों से भी कभी उसके बारे में कुछ न सुना। उसके बारे में कुछ पूछने की तो समझ ही कहां थी? वैसे हमने अपनी समझ में इतना तो उन दिनों में ही बिठा लिया था कि महतावे का दुनिया में कोई नहीं। उसे काम के बदले में सिर्फ रोटियां मिलती हैं या तन ढकने को कपड़ा।

महतावा पूरे कद-काठ का जवान था। काम करने की उसे पूरी समझ थी, लेकिन वह जुबान से बोल नहीं सकता था। कोई गलती होने पर उसके मालिक उसे कभी डांटते या मारते तो वह ऊंचे ऊंचे लअ...! लाअ! ला...आ.. लाआ.. अरड़ाता रहता, जैसे ऊंट अरड़ाता है।

हम देखते महतावा अंधेरे-अंधेरे ही पशुओं के आगे चारा डाल रहा है। पशुओं को नोहरे से घर ला रहा है। पशुओं के लिए गवार-बिनौले रांध रहा है। हुक्का भर रहा है। थोड़ा सा दिन चढ़े पशुओं को जोहड़ पर ले जा रहा है। घोड़े और घोड़ियों को नहला-टहला रहा है।

गर्मी की दुपहरी हुई तो महतावा पंखा झल रहा है। शाम को फिर पशुओं को ठाणों पर बांध रहा है, 'नीर-चार' रहा है। रात होने पर पशुओं को नोहरे में बांधने जा रहा है।

इतना काम करने के बाद और महतावे की पहुंच चूल्हे-चौके तक होने के बावजूद भी हम देखते कि महतावा वालों में नहीं, रोटियां हाथ में लेकर ही खा रहा है।

महतावा हमारे गांव मे ज्यादा दिन न रहा। एक दिन हमने सुना कि महतावा भाग गया है, या उसे कोई उड़ा ले गया है। मालिकों ने ढूंढने की कोशिश की होगी, क्योंकि इतने सस्ते मे इतना कमाऊ कहा मिलता है, लेकिन महतावा कहीं मिला नहीं और इस प्रकार वह हमसे सदा के लिए बिछुड़ गया।

एक अन्य अजीबोगरीब व्यक्ति था— पतराम उर्फ 'नम्बरदार'। गाव मे एक तो असली नम्बरदार होता ही है, जो मालिया वसूल करता है, लेकिन एक-दो दूसरे नकली नम्बरदार भी होते है जिन्हें लोग हसी-मजाक मे नम्बरदार की उपाधि दे देते हैं या गाव मे जो पट्टू किस्म का आदमी होता है, लोग उसे 'नम्बरदार' कहना शुरू कर देते हैं।

बेचारे पतराम मे और तो कोई कमी नहीं थी, लेकिन उसके शरीर में किसी खास तत्व की कमी की वजह से उसके दाढ़ी-मूछ नहीं उग पाई थी। बस इसीलिए लोग उसे जनानी से भी गया-गुजरा समझते थे

, न्ते थे।

काम किया करता था। हम उसे अक्सर लोगों के खेतों में दिहाड़ी पर जाते देखते थे। मजूरी के पैसों से वह क्या करता था और क्या नहीं, किसी को पता नहीं था। उसकी एक विशेषता थी कि वह उसी किसान के खेत में काम ठीक करता था जो प्रेम से काम लेता था। जो किसान उसे जरा सा भी कुछ कह देता था उसका काम या तो मन मार कर करता था या बीच में ही छोड़ कर घर आ जाता था। लोग उसकी इस आदत से डरते थे।

पता नहीं तो अपने को मर्द सिद्ध करने के लिए या पता नहीं किसी के बहकावे में आकर काफी उम्र में पतराम एक औरत ले आया। औरत के साथ उसके दो-तीन बच्चे भी थे। पतराम अपने भाई के मकान में हिस्सा बटा कर उस औरत के साथ रहने लगा, लेकिन वह औरत ज्यादा दिन उसके साथ न रही। कुछ ही दिन बाद कहीं किसी के साथ भाग गई। बेचारा पतराम फिर उसी प्रकार अकेला रहने के लिए अभिशप्त हो गया।

हमारे गाव में एक हद दर्जे का कंजूस आदमी भी था। किसी को कंजूस कहना बुरा है, इसलिए मैं नाम नहीं लूगा। गाव के लोग भी उसे मुंह पर कंजूस नहीं कहते थे। लेकिन पीछे से खूब उसकी कंजूसी की बातें किया करते थे।

वह पूरा कंजूस था यह कई बातों से सिद्ध होता था। एक तो यह कि थोड़ी सी जमीन के बल पर भी कस्बे की आढत की दूकान में उसके हजारों रुपये जमा थे। दूसरा, बुढ़ापे और नजर की कमजोरी के बावजूद भी वह खेत में काम स्वयं करता था। वह ट्रैक्टर तक खरीद लेने की हैसियत रखता था, लेकिन एक मरियल सी डाची से खेती किया करता था।

एक बार गाव में यह बात भी उड़ी कि कस्बे के आढ़तिये ने उसके जमा पैसे लौटाने से इंकार कर दिया है।

गांव की या देश की राजनीति मे उसकी जरा भी रुचि नहीं थी।

वह कभी भी अपने या किसी दूसरे के काम के लिए इलाके के विधायक के पास नही गया था। उसे जरूरत ही क्या थी? जमीन-जायदाद को लेकर उसका किसी के साथ कोई झगडा नही था। गाव की पार्टीबाजी से वह कोसो दूर था। फिर भी एक बार उसने हमारे क्षेत्र के विधायक उम्मीदवार को सिक्को से तौला था।

मुझे तो यह अमीर भी महताबे और पतराम जैसा बेचारा लगा। क्यो नही?

# लभा सिंह

'लभा', यानी मिला । लभा सिंह आज से पच्चीस-तीस साल पहले अपने मां-बाप को शरीर गलाने से मिला था । एक-दो लड़कियों के बाद जब उनके घर पुत्र ने जन्म लिया तो जरूर उन्हें कोई बहुत बड़ी खुशी हुई होगी । इस खुशी का परिणाम रहा होगा उस बच्चे का नामकरण 'लभा सिंह' ।

लभा सिंह का बाप नंद सिंह कभी हमारे गांव के स्कूल मे चपरासी था । बडा हसमुख था । पंजाबी हरिजन होते हुए भी बागड़ी गांव वालों के साथ ऐसा घुला-मिला कि लोगो को उसके परदेशी होने का आभास भी न होता । उसकी घरवाली तथा लड़की जमीदारों के घर मे झाड़ू-बुहारी कर आती । लभा सिंह और उसका छोटा भाई सड़क के किनारे बकरियां चरा लाते । जिधर स्कूल था उधर ही हमारा खेत था, इसलिए हमारे परिवार के साथ नंद सिंह के परिवार की मेल-मुलाकात होती रहती थी । कभी-कभी नंद सिंह स्कूल के मास्टरों के लिए और अपने लिए दूध लेने भी हमारे घर आ जाता था । उसके साथ बच्चे भी रहते ।

उनका घर स्कूल के उस कोने मे था जहां से हम रोज आते-जाते थे । पास से निकलते हुए हम उनके घर के आगे थोड़ा-बहुत रुक जाते थे । उनके घर की मुर्गियां और खरगोश हमारे आकर्षण का केन्द्र होते थे । वहीं लभा सिंह से जो मुझसे चार-पांच वर्ष छोटा रहा होगा, बातचीत हो जाती थी ।

मेरे गांव का स्कूल छोड़कर शहर कालेज में जाने से पहले ही

नंद सिंह की बदली हो गयी। वह सपरिवार चला गया। एक बार मैं नंद सिंह के परिवार को एक तरह से भूल सा गया। हां, कभी-कभार गांव-घर आता तो लभा सिंह हमारे घर गांव के चौकीदारों की तरफ से आटा मांगने आता। मैं उससे उसके मां-बाप के बारे में जरूर पूछता। वह झूठे-सच्चे कई उत्तर देता।

मैं उससे यह भी पूछता कि अपने मां-बाप को कुछ नौकरी भी भेजते हो या नहीं ? वह नीची नजरें किये 'हां ..हूं' करके निकल जाता।

इन बातों को भी दस-बारह वर्ष बीत गए हैं। शायद उसके मां-बाप सन्तान सुख से वंचित रह कर मर गए हैं। लभा सिंह अभी भी हमारे गांव के चौकीदार के घर ठहरा हुआ है। चौकीदार की भेड़ें चराता है। सुबह-सुबह उसके लिए गांव से आटा भी मांग कर लाता है। सोचता हूं—लभा सिंह का बचपन का नाम कुछ और होना चाहिए था और यह नाम तो हमारे चौकीदार को रखना चाहिए था।

लभा सिंह को मैं गांव में जब भी देखता हूं, सोचता हूं—बुढ़ापे में इसका क्या होगा ? क्या यह चौकीदार इसे घर से निकाल नहीं देगा ? और क्या लभा सिंह भीख मांगने के लिए मजबूर नहीं हो जाएगा ?

जहां स्कूल नहीं थे वहां हम स्कूल खोलने की बातें करते रहे, लेकिन स्कूल चपरासियों के बच्चे यानी स्कूलों में बसे परिवारों के बच्चे अनपढ़, गंवार और देवरूप रह गए! कितनी बदसूरत रही हमारे पिछले पच्चीस-तीस वर्षों की तस्वीर!

दूसरे का शोषण करने से हम जरा भी नहीं चूकते। बस हमारे ऊपर न कोई आंच आना चाहिए। भले ही वह हमारे अपने ही वर्ग और अपनी ही जाति का क्यों न हो!

# कितने संस्कारित हैं हम ?

लेखकों के आंचलिक सम्मेलन में भाग लेने के लिए अनेक साहित्य-कारो के बीच जब मैं पहुंचा तो सम्मेलन के दौरान पहले दिन प्रश्न उठा कि अधिकाश वर्तमान साहित्य (कथा-कविता) गरीबी का भरपूर चित्रण करता है, लेकिन क्या वह गरीब तक पहुच कर उसको संस्कारित करता है ?

इसके जवाब मे मैने ही कहा था कि ऐसे साहित्य के गरीब तक पहुंचने की आवश्यकता ही नहीं है। जो कुछ लिखा जा रहा है उसके द्वारा तो उस मध्यम वर्ग को ही संस्कारित करना है, जो पढ़ता है और शासन-सत्ता का हिस्सा है। इस प्रकार-शासन-सत्ता के छोटे-से-छोटे पुर्जे को भी अगर साहित्य सस्कारित कर देता है तो साहित्य अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है। यह वर्ग ही है जो सर्वहारा वर्ग को लाभ पहुंचा सकता है। मैंने यह भी कहा था कि ऐसा साहित्य सत्तासीनो की आंखें खोलता है और उन्हे गरीबो के बेहतर हालातो के लिए सोचने को मजबूर करता है।

साहित्य पढ़ने वाले साहित्य मे संस्कारित होते हैं या नही, यह बहस का विषय है, लेकिन अधिकांश साहित्यकारों से कम पढ़े-लिखे ज्यादा संस्कारित होते हैं, यह बात मैं प्रमाणित कर रहा हूं।

जब सम्मेलन मे भाग लेने घर से निकला था तो थैले मे 'उत्थान' पत्रिका की पचास प्रतियां डाल कर ले गया था। इरादा था मुफ्त ... को नही दूंगा। दो रुपये मूल्य कोई ज्यादा भी नहीं है। लेखक

भादयों के मध्य तीस-चालीस प्रतियां चली गयीं तो काफी सहारा मिलेगा। सम्मेलन के मध्य में दो-चार लेखकों ने 'उत्थान' का जिकर किया तो मैंने कहा कि इस पत्रिका का नया अंक निकल चुका है, लेकिन दूंगा तभी जब आप दो रुपये देंगे।

रात कवि सम्मेलन में और साहित्यकारों के साथ बातचीत में जाग कर बीती। सुबह को एक-दो लेखकों को जो 'उत्थान' देखने के लिए ज्यादा उत्सुक थे, पत्रिका दिखाई। पत्रिका उनके हाथों से निकल गयी। कई लेखकों के बीच घूमी। किसी एक ने भी नहीं कहा कि भाई दो रुपये ले लो। हां, प्रयास करने के लिए दाद सभी ने दी।

इसी प्रकार दोपहर हो गई। 'उत्थान' की एक भी प्रति न बिकी। इक्का-दुक्का लोग जाने भी लगे। तब मैंने सोचा—पत्रिका कोई नहीं खरीदेगा। दे दूंगा तो पढ़ जरूर लेंगे। मैंने पत्रिका मुफ्त बांटना शुरू कर दिया। जिन लोगों को मैंने पत्रिका दी वे अधिक अच्छी स्थिति के थे। गरीब लेखक तो इस सम्मेलन में पहुंचे ही नहीं थे। यहां आने पर तो किराया-भाड़ा ही मिलता। घर पर बच्चे क्या खाते? अच्छा ही हुआ वे नहीं आए। यहां पधारे लेखकों की तड़क-भड़क देखते तो बेचारे मायूस हो जाते।

सब ने पत्रिका लेकर रख ली। किसी ने भी मूल्य नहीं देखा मुझे मन से भी जेब पर हाथ नहीं मारा। दस-पन्द्रह लेखकों को तं पत्रिका मैंने अपने आप दी। एक-दो ने मांग कर भी ली, लेकिन मूल् की बात तो उन्होंने भी नहीं उठाई।

मूल्य की बात उठाने वाले भी आदमी हमें मिले। वे थे एक मामूलं से पढ़े मेरे रिश्तेदार। आते वक्त उनसे मिलने गया था। उन्होंने आ का प्रयोजन पूछा तो मुझे सारा कुछ बताना पड़ा और लेखक होने व प्रमाण देने के लिए उन्हें 'उत्थान' देनी उपयुक्त समझी—'पढ़ लोगे क्या' मुझे पूछना पड़ा था, लेकिन अब मुझे लगता है कि वे हम सबसे ज्याद पढ़े थे। उन्होंने सर्वप्रथम पत्रिका के मूल्य को ही देखा था। दो रुप

देने भी चाहे थे। मैंने ही टाल दिया था, यह कह कर कि कभी इकट्ठा ही ले लेंगे। सोचता हूं—रिश्तेदार ने रिश्ते की गर्मी के कारण ही तो इतनी आत्मीयता नहीं दिखाई, लेकिन सोचें-समझें तो लेखक-लेखक का रिश्ता भी कोई मामूली रिश्ता नहीं। भाई-भाई का रिश्ता है।

मामूली पढ़े-लिखे या अनपढ़ कहां से होते हैं इतने संस्कारित? राज खुलता है शाम को जब मुहल्ले में चंग पर कुछ युवक गाते हैं—मत गरभो (गर्व करो) रे भाई मत गरभो। गरभ कियो रे भाई हिरणाकश्यप ने...।

सचमुच ही इन लोगों को तो गली-मुहल्ले ही संस्कारित कर जाते हैं। स्कूल-कालेजों की इन्हें दरकार नहीं। सचमुच ही जितनी गन्दगी हम पढ़े-लिखों में है उतनी इन अनपढ़ों में नहीं। अपने-अपने ही लिखे से संस्कारित नहीं होते।

# एक खुशी बहुत दिन बाद

पिछले कई दिनों से मैं काफी परेशान था। न तो किसी प्रिय मित्र से मिलन हुआ था और न ही कहीं से कोई शुभ समाचार प्राप्त हुआ था। ऊपर से मेरे घर का पड़ोसी मेरे साथ पांचवीं-सातवीं बार अत्यधिक उग्र रूप में लड़ चुका था और मुझे मार देने की धमकियां दे रहा था।

कई दिनों से मेरे पास मेरी चाची आई हुई थी। उसे गांव भोजगढ़ छोड़ कर आना था। खूब ठंड पड़ती थी। आज दोपहर तक भी धुंध नहीं छटी थी। मेरी बायीं आंख फड़क रही थी। इस आंख फड़कने ने एक बार मुझे काफी परेशान किया था, इसलिए पूर्णतया नास्तिक होते हुए भी मैं थोड़ा-बहुत वहम करने लग जाता हूं। चाची के साथ मेरा यही तय था कि ठंड न हुई तो ही चलेंगे, लेकिन चाची पूर्णतया तैयार थी। जाने की बात मैं परिवार में चला चुका था। अब ठंड से डर कर या आंख फड़कने से डर कर घर में नहीं बैठा जा सकता था। फिर कोई न कोई मुसीबत तो घर में बैठे भी आ सकती है। उस हालत में तो और भी ज्यादा जब पड़ोसी ही जान का दुश्मन बना बैठा हो।

खैर, हम घर से निकले तो धूप भी निकल आई। हम बड़े मजे से गांव पहुंच गए। मजे से पहुंचने का यही अर्थ है कि कोई परेशानी नहीं हुई। नहीं तो यात्रा करते हुए जितनी उदासी मेरा मन अक्सर धारण करता था उतनी उदासी भर नहीं पाया था। थोड़ा-बहुत ठंड का डर भी तो घर और पड़ोस तक ही [illegible] कर लौट आता और सिकुड़-सिकुड़

कर अपनी सीट पर थंगा रहा।

गांव पहुंचे तो बड़े से छोटे भाई के घर अजब तमाशा देखा। जिस जगह आगन मे चाचाजी की चारपाई लगी होती थी वहां एक रंड-मुंड "मोड" की चारपाई पडी थी। "मोड" आराम से लेटा था और चाचाजी का घर में कोई अता-पता नही था। चाचाजी नि:सन्तान थे, इसलिए हमारा ही सरणा लिये थे। पूछताछ की तो पता चला कि वे इस भाई से लड कर वडे भाई के घर चले गये हैं।

मैं उनके पास गया। देखते ही उन्होने पूछा—'क्या तुम्हारी चाची आई है? अगर आई है तो उसे उधर मत जाने देना।'

मैंने भतीजे को भेज कर चाची को उधर ही बुला लिया। चाचा ने चाची को ललकारा कि खबरदार जो उनके घर गयी। उसने मुझे धक्के देकर घर से निकाला है।

जिस भाई के घर से वे निकल कर आये थे उससे उनका कभी काफी मोह-प्यार था, लेकिन अब हाल यह हो चुका था। वह भाई चाचाजी को रोटी तो देता था। उसके बच्चे और मेरी भाभी जितनी बन पडती थी, टहल-सेवा भी करती थी, लेकिन वह स्वयं चाचाजी से कभी बतियाता नही था। इसी बात का चाचाजी को गुस्सा था कि यूं टुकडा तो घर मे कुत्ते को भी डाला जाता है। बाद मे हम भाई-भाई इकट्ठे बैठे तो मैंने उस भाई से कहा कि भलेमानस कभी चाचाजी के पास भी दो मिनट बैठा करो। उसने मुझे चिट्टा जवाब यूं दिया—'आज बैठूं न कल। न चाचा के पास बैठूं और न कभी तेरे पास। मैं तो अपनी किताब (धार्मिक) पढूंगा या ध्यान लगाऊंगा।'

मैंने कहा—'मेरे पास न बैठो तो मेरी सेहत पर तो कोई असर नही, लेकिन 'माइतों' के पास तो बैठना ही चाहिए।' लेकिन मेरी बात का उस पर कोई असर न हुआ। थोडी देर बाद मैं उठ कर उस भाई के घर की तरफ गया तो देखा कि "मोड" के पास गांव के चार आदमी बैठे हैं। मेरा वह भाई उन सबको चाय डाल-डाल कर पकड़ा रहा है। मैंने मन

ही मन में कहा—वाह रे ! जमाने वाह ! "मोड" और उसके चेले-चाटों को तो यूं चाय और सगे चाचा को यह धक्के। "मोड" भी क्या "मोड" है, जो यह सब देखता नहीं कि जो आदमी अपने बड़े-बूढ़ों को धक्के देता है, उसके घर में वह डेरा जमाए हुए है। हालांकि वह चाचाजी का हम-उम्र था और खूब परिचित भी, लेकिन वह क्यूं सोचे ऐसा ?

खैर मुझे गांव-घर बहुत-थोड़ी देर के लिए रुकना था, इसलिए मैंने भी मामले को ज्यादा तूल नहीं दी। सबसे छोटे भाई और बड़े भाई को समझा दिया कि जैसे भी बन पड़ता है चाचा-चाची को संभालो, इनकी जमीन-जायदाद से खर्चा-पानी नहीं चलता तो मैं दे दूंगा।

भाइयों से मुझे यह भी पता चला कि हमारे ही कुनबे के एक लड़के को गांव के कुछ मोतबरों के लड़कों ने मारा-पीटा और उस मामले में पुलिस आयी है। उस कुटम्बी के पास जाने और सान्त्वना देने का मेरे पास वक्त तक नहीं था। इसका मुझे बड़ा अफसोस हुआ। मुझे वह रात अपनी ससुराल चुड़ियावाली दस्ता में बितानी थी और अगले दिन लौट कर पीलीबंगा जरूर पहुंचना था।

ससुराल पहुंचे तो वहां भी एक साला जी तो घर पर ही नहीं मिले। छोटे वाले मिले। कुशल-क्षेम पूछी। मेरे पास भी कोई खुश-खबरी नहीं थी। पड़ोसी या वैरी होने का समाचार था तो उनके पास भी अपने ही दुखों का रोना था। उनकी एक बहन को उसका घरवाला रोज मारा-पीटा करता था। किसी तरह बेचारी ने दस-बारह वर्ष काटे कि एक न एक दिन इसे अक्ल आएगी और यह ठीक रास्ते पर आ जाएगा, लेकिन मीट-दारू से उस राक्षस की बुद्धि दिनों-दिन खराब होती चली गयी। आखिर पिछली जुलाई में मेरे साले अखबार पुलिस को साथ लेकर उस नर्क से अपनी बहन को निकाल लाए। फिर पुलिस ने हुस-पुस में उसकी मदद की वहीं मेरे साढ़ू ने पैसे खाकर उसकी दुश्मन बन गयी। उस पर तो झूठे मनगढ़ंत केस बनाए गये। गिरफ्तार करने के लिए दौड़ पड़ी। गिरफ्तार किया और वे जमानत पर छूटे।

मेरे सालो ने इस साधू के पुलिस से दो-चार जूते मरवा दिये थे और कुछ दिन हिरासत मे बद करवा दिया था। उसे इस बात का पूरा रज था। सफल और दबग तो था ही। वह इस सबका बदला चाहता था। बदला लेने के लिए वह बार-बार पुलिस को उनके पीछे लगाता था। मुझे इस सब का पता था और आज फिर नये सिरे से मेरे छोटे साले ने मुझे बताया तो मेरे दिल में आग लगी कि चलते वक्त मुझे अबोहर थाने मे बातचीत करनी चाहिये। मैं इतना पढ़ा-लिखा हू। साहित्यकार बना फिरता हू। अपने गरीब दबे-कुचले रिश्तेदारो की जरा भी मदद नही कर सकता। मुझे अपने आप पर बडी ग्लानि अनुभव हुई। मैंने मन ही मन में पुलिस से मिलने का निश्चय किया, लेकिन साथ मे यह भी सोचा कि मुझ अदने साहित्यकार को पुलिस भला क्या समझेगी?

चुड़ियावाली घन्ना से लौटते हुए बस में बैठा मैं विचार बना रहा था कि आज अबोहर के उस कालेज में जाकर आऊंगा जहा मैं पढा हू। बहुत वर्ष हो गए कभी देखा नही। उसे देखने की मन मे बड़ी साध है, लेकिन जब भी अबहोर जाते है भागते हुए निकल जाते है। मैंने सोचा—आज टाइम है।

लेकिन मेरे मन ने कहा—नही कालेज की बिल्डिंग और पेड-पौधो को देख कर तुम सच्ची खुशी नही पा सकोगे। कर सकते हो तो किसी तरह अपने रिश्तेदारो की मदद करो। पुलिस को समझाने जाओ।

बस अड्डे पर उतरा तो मेरे पाव अबोहर मे मेरे एकमात्र परिचित साहित्यकार डाक्टर चन्द्रशिखा के होमियोपैथी क्लीनिक की ओर चल पड़े। मिल भी गए। दुकान की सीढियो पर धूप मे बैठे एक आदमी से बतिया रहे थे। मुझे देख कर उनकी आखों में एक चमक पैदा हुई और उन्होने धीरे से अपना हाथ मेरी ओर बढा दिया। मैं हाथ मिला कर एक तरफ बैठ गया। पहले उन्होने उस आदमी को सुलटाया, फिर उठे हुए कि आओ चाय पीते हैं। पास ही एक ढाबे मे चाय पीते हुए मैंने उन्हें बताया कि आज मैं किसी साहित्यिक विषय पर चर्चा करने नही

आया। एक गैर-साहित्यिक काम से आया हूं। मैंने अपनी सारी परेशानी उन्हें बतला दी।

उन्होंने मुझे बताया कि आजकल पुलिस अखबारबाजी को तो लाघ भी जाती है। फिर हम एक बार अखबारो मे जाने की बजाय उनसे सीधी ही बात करके देखते हैं। इनका एस. पी मुझसे दवाई लेता है और मुझे पूरा मानता है। आप मेरा पत्र लेकर यहा के एस.एच ओ से मिल लो। शाम को मैं भी उनसे मिल लूगा। ये बाज आते हैं तो ठीक, नही तो अपने इनकी बडे अफसरो से शिकायत कर देंगे।

मैं थाने गया। सयोगवश उस समय थानेदार तो छुट्टी पर था। एक सरदार ए.एस.आई. इंचार्ज थे। उनसे बातचीत हुई तो उन्होंने बताया कि आपके रिश्तेदार का गाव मेरी ही जेल मे पडता है। आगे से आपके रिश्तेदारो का हम पूरा ख्याल रखेंगे। उसने अपनी फायल के कवर पर नाम भी नोट कर लिया कि इन्हें तग नहीं किया जाएगा।

मैंने अपने साढू की मशा से उसे अवगत कराया कि वह बदला चाहता है और पुलिस को पैसे देकर मेरे सालों के जूत लगवाना चाहता है।

पुलिस अफसर ने कहा—'नही ! नही ! ऐसा कभी नहीं होगा।'

एस एच.ओ. के आने पर उन्हें मेरा मकसद बता देने की ताकीद करके लौट आया। मेरा मन हल्का हो गया। मित्रजी को धन्यवाद देने के लिए मै जा नही सका, लेकिन पत्र द्वारा सूचित करने का इरादा बना कर मै बस मे आ बैठा। मैं हैरान था, थाने जैसी जगह से मुझे खुशी हासिल हो गयी थी।

# जब मुझे अप्रैल फूल बनाया गया

सुबह-सुबह जब मैं सब्जी मण्डी मे सब्जी खरीद रहा था तो मेरे एक कुलीग ने मुझे बताया—'तुम्हारा मनीआर्डर आया है।'

मैंने तपाक से पूछा—'कितने का है?'

'अस्सी रुपए का है।' साथ ही उसने यह भी कहा—'पोस्टमैन घर पर ही है। जाओ, ले आओ। मैं अभी-अभी उसी के घर से आ रहा हूं।'

पोस्टमैन का घर वहां से निकट ही था। एक बार तो जी में आया कि जाऊं और पैसे ले आऊं, लेकिन फिर सोचा—जब रुपए आ ही गए हैं, तो मिल जाएंगे। पोस्टमैन के पास जाने की क्या आवश्यकता है? वह अपने आप आकर दफ्तर में ही दे जाएगा।

मैं घर की ओर आते हुए बेहद खुश हो रहा था। लेखन कार्य के प्रति छाई सारी उदासीनता छंट गयी। कोई ज्यादा पत्रिकाओं से तो पैसे आने वाले थे नही। बस दो-चार पत्रिकाओं से आने की उम्मीद थी। मैं मन ही मन मे हिसाब लगाने लगा कि कौन सी पत्रिका ने इतनी बड़ी रकम भेज दी? जिन पत्रिकाओं में मेरी रचनाएं छपी थी, वे तो इतनी बडी राशि देती नहीं थीं। हां! एक पत्रिका मेरे ध्यान मे आई जिसमें मेरी एक कहानी स्वीकृत थी। मैंने सोचा—उसने अडवांस भेज दिया होगा।

साथ में यह भी सोचा—किसी बड़ी पत्रिका ने स्वीकृति-पत्र दिए बिना रचना छाप दी होगी। स्वीकृति-पत्र भेजा भी होगा तो डाक में खो गया होगा। मुझे मिला नही होगा।

कुछ भी हो, मैं खुश था और अच्छा से अच्छा लिखने और छट कर

लिखने को मेरा मन कर रहा था। मेरे मस्तिष्क में कई कहानियों के प्लाट मंडराने लगे और कई कविताओं के विचार हिलोरें लेने लगे।

मैंने मन ही मन में अपने आप से कहा—तुम तो खामखां लेखन कार्य को घटिया करार दे रहे थे। यह तो बहुत बढ़िया है। साथ ही तो मन बहलाई हो जाती है और साथ ही कुछ कमाई भी। तुम्हारे साथ के बेकारी छुट्टी वाले दिन कितने ऊब जाते हैं। उनसे दिन काटे नहीं कटता और तुम्हें छुट्टी वाले दिन का पता ही नहीं चलता।

तभी मुझे एकदम याद आ गया—अरे! आज तो पहली अप्रैल है। किसे मेरे सहकर्मी ने जरूर अप्रैल फूल बनाया है। याद आते ही मेरा मन एकदम बुझ गया। लेखन के प्रति मन में फिर वही उदासीनता छा गयी—साला, यह भी कोई धंधा है? घरवाली तथा बच्चों से किसी प्रकार पिण्ड छुड़ा कर लिखो। छुट्टी वाले दिन का सत्यानाश हो जाता है। न कहीं बाहर निकलना, न कहीं सैर-सपाटा। बस घर में बैठे लिखते रहो। बीड़ी, सिगरेट और पत्तकी की लत पकड़ो। शरीर का सत्यानाश करो। पहले रजिस्टर में या डायरी में लिखो, फिर साफ कागज पर लिखो। लिफाफा तैयार करो। टिकट लगाओ। वापसी के लिए टिकट लगा लिफाफा अलग से भेजो। कितना खर्च आता है? और सम्पादक महोदय रचना इतनी बेरहमी से लौटा देते हैं जैसे कुछ हुआ ही न हो। पत्रिकाओं वालों को तो रचना लौटाने का हरजाना देना चाहिए, जिस प्रकार लोक कल्याणकारी सरकार बेकार लोगों को काम न दे सकने की हालत में उन्हें बेकारी भत्ता देती है, लेकिन हरजाना देना तो दूर, ये तो अपनी टिकट और लिफाफा भी रचना लौटाने के लिए नहीं देते। हाय रे भगवान! कैसी है तेरी दुनिया और कितने बेरहम लोग हैं तेरी इस दुनिया में?

दफ्तर में पहुंचा तो उसी बुझेपन को उलाहना दिया—'अरे! तुझे भी [illegible] हुआ। [illegible]' वह अन्दर से हंस कर रह गया। 'क्यों' वह

[illegible] आर्डर आया है।'

# अपना मकान होने का दुख

जिन लोगों के अपना मकान नहीं होता वे अक्सर रोते हुए देखे जाते हैं। उन्हें पराये घरों में रहना पड़ता है और पराये घरों का हाल यह है कि पराया घर, थूकने का डर। मकान मालिक न जाने कब छुट्टी कर दे? कब किराया बढ़ा दे। कई दुख हैं जिन्हें बेमकान लोगों को झेलना पड़ता है।

लेकिन जिन लोगों के पास अपना मकान होता है वे भी कम दुखी नहीं हैं। दुख भी किसी और बात का नहीं, अपना मकान होने का होता है। लाखों रुपये लगा कर मकान बनाया जाता है। पड़ोस गन्दा निकल आता है। अपने ही मकान में रहना दूभर हो जाता है। बच्चों को लेकर लड़ाई, तांक-झांक को लेकर लड़ाई, इसलिए आदमी उम्र भर के लिए लड़ाई-झगड़े का तनाव झेलने के लिए बाध्य हो जाता है।

अगर किसी का पड़ोसी पियक्कड़ है तो रात को पीकर आता है। अपनी घरवाली और बच्चों को मारता-पीटता है। पड़ोसियों की खुशहाली से जलकर उन पर जुबां के तीर चलाता है तो भी जीना दूभर हो जाता है। पड़ोसियों की कई अजीबोगरीब आदतें भी किसी को परेशान कर सकती हैं, मसलन रेडियो की आवाज ऊंची रखना, जुआ खेलना-खिलाना, कोई अन्य अनैतिक व्यापार करना, इत्यादि।

मुर्गियां रखने वाले पड़ोसी से भी आदमी तंग आ जाता है। मुर्गियां बीटें तो पड़ोसी के दालान में करेंगी और अण्डा मालिक के दालान में देंगी। अगर मुर्गी पड़ोसी के दालान में अण्डा दे भी तो भी मालिक

कष्ट भोगे बिना नहीं रहेगा।

जिन लोगों का मकान मन्दिर या अन्य किसी धार्मिक स्थान के निकट होता है, उनकी नींद सुबह चार बजे ही हराम हो जाती है। जिन लोगों का मकान किसी कब्रिस्तान के [illegible] है [illegible] नहीं रहता। दिन-रात [illegible] कारखानों इत्यादि के पड़ोसी बेचारे ही [illegible] रहते हैं।

नदी नालों में अगर किसी का मकान बाहर की तरफ होता है या पूरा परकोटा नहीं होता है तो वहां चोरों का डर इतना अधिक होता है कि लोग अपना मकान होते हुए भी वहां नहीं रहते। किराए पर अन्यत्र रहते हैं। अगर रहते हैं तो हर वक्त डर रहता है। हर दम का डर कितना बुरा है?

शहर की कुछ जगहें ऐसी भी होती हैं जहां मकान बन जाते हैं, लेकिन बिजली-पानी की व्यवस्था नहीं होती। ऐसी जगह भी किसी का मकान हो तो वह भी होया अनहोया है। इसी तरह शहर में कुछ स्थान ऐसे भी होते हैं जहां पानी कम पहुंचता है। ऐसे स्थानों पर मकान होने पर भी मजा किरकिरा हो जाता है।

जिन लोगों का मकान शराब के ठेके के सामने हो उनकी बहू-बेटियों का बाहर निकलना मुश्किल हो जाता है। दिन-रात शराबी नशे में धुत होकर गली में पड़े रहते हैं।

अगर किसी का मकान श्मशान भूमि के निकट है तो उसके मालिक को शांति तो मिल सकती है और संसार के नश्वर होने का अहसास भी, लेकिन वहां भी मुर्दे जलने की गंध तो तकलीफ देती ही है।

इसलिए अपना मकान न होना ही ठीक है। अपना मकान बना कर आदमी एक ही जगह से बंध जाता है। जगह-जगह मकान बना लेना कोई सरल काम तो है नहीं। घाट-घाट का पानी पीना तो किरायेदारों के ही नसीब में है। जिन लोगों के पास अपना मकान होता है, उन्हें व्यर्थ ही भाग्यशाली समझा जाता है।

# लागी ना छूटे : बेटिकट यात्रा की
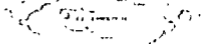
एक लेखक सम्मेलन मे भाग लेने के लिए मुझे दूर-दराज के एक कस्बे मे पहुचना था। गाडी कभी समय पर नही आती, यह सोच कर मैं ठीक टाइम पर स्टेशन पहुचा ही था कि देखा गाडी चलने को तैयार है। कोई चारा न देख कर मैं झट से गाड़ी मे सवार हो गया। गाडी मे सवार होते ही गाडी चल पडी। मेरे डिब्बे मे गार्ड नही चढा था, जैसा कि अक्सर ऐसी भाग कर चढती हुई सवारियो को देख कर होता है। मै सोच रहा था, काश! टी.टी.ई. आ जाता, उसे सब कुछ सच-सच बता कर टिकट बनवा लेता, लेकिन चलती हुई गाडी मे टी.टी.ई. भला कैसे आता? अगले स्टेशन तक उसके आने की कोई गुंजाइश नही थी। ज्यादा देर होने का मतलब था मेरी नीयत पर रेलवे को शक होना।

डिब्बे की दीवार पर लिखा था बेटिकट यात्रा करने वालो को छ माह की सजा अथवा पाच सौ रुपये का जुर्माना अथवा दोनो सजाए साथ-साथ।

पढ़ कर मुझे घबराहट हुई। चैकिंग आ गयी और सजा हो गयी तो सजायाफ्ता और गिना जाऊगा। सजायाफ्ता लोग सरकारी नौकरी मे भी नही रह सकते। फिर घर-गृहस्थी चलाने के लिए जरूर मुझे कोई और धंधा करना पड़ेगा जिसमे बारह महीने चौबीस घंटा लगा रहना होगा। फिर लेखन के लिये समय कहा से मिलेगा? यह सरकारी नौकरी अच्छी है ऐसे फालतू कामो के लिये। इसमे खूब समय मिलता है।

घर-घराके हुए मे इबली का स्टेशन आ गया। इबली स्टेशन छोटा है और गाड़ी यहा थोड़ी सी देर रुकती है। उतर कर खिड़की से टिकट बनवा लाने की गुंजाइश नही होती, लेकिन उस दिन मुझे ऐसा लगा कि जैसे गाड़ी ज्यादा देर रुकेगी। मेरा डिब्बा काफी पीछे था और मुझे लगा कि जैसे गाड़ी आउटर पर ही खड़ी है। मैं सोचता भाग कर जाता हू। खिड़की से टिकट बनवा लाता हू, लेकिन खिड़की के पास पहुचने तक मुझे लगा जैसे गाड़ी चल देगी। मेरा सामान भी डिब्बे मे था। सोचा टिकट के चक्कर मे कही सामान ही न खो बैठू। टिकट लेने का

# लागी ना छूटे : बेटिकट यात्रा की

कई बार कई साथियों के साथ यात्रा की है, जो टिकट नही ले<br>गार्ड को आधा किराया पकड़ा देते हैं, लेकिन ऐसा करने में मुझे<br>तुक नजर नही आती। पैसे भी दो, देश-सरकार को घाटा पहुंचाओ<br>बेटिकट यात्रा करने का तनाव भी भोगो। सरकारी उद्योग-धंधे<br>घाटे में चलते हैं तो पूजीवादी मानसिकता के लोगों को सरकारी उ<br>धंधों को या समाजवादी व्यवस्था को कोसने का मौका मिल जाता<br>हमारी रेलवे को आ । बड़े-बड़े औद्योगिक<br>व्यंग्य करते हैं लाभ<br>कार दिखाते

में डूबे हम हनुमानगढ़ जंक्शन के आउटर पर जा पहुंचे। सिगनल न होने के कारण गाड़ी खड़ी हो चुकी थी। कई विदआउट टिकट और कई जिनका घर निकट पड़ता था उतरने लगे। मेरे लिये भी सुनहरी मौका था, लेकिन मैं तो टी टी ई को दस रुपये सौंप कर फंसा बैठा था। एक-दो बार तो जी मगमगाया कि छोड़ दूं बकाया का मोह और उतर पड़ूं यहीं, इसी वक्त, लेकिन बैटिंग वगैरह का भार था। दूर आउटर के पास सड़कों पर कोई रिक्शा मिलने के आसार भी नहीं थे। आउटर से स्टेशन तो काफी दूर होना ही है, इसलिए मैं मन मार कर बैठा रहा।

सिगनल होने पर गाड़ी चली। स्टेशन पर पहुंची। मैंने टी टी ई. को तलाशा। उसने मुझे पांच रुपये पकड़ाते हुए कहा—'कभी टिकट न ले सको तो इतने घबराया न करो।'

पांच रुपये जेब में डालते हुए मैंने सोचा—जाते चोर की लंगोटी ही सही। टिकट-विकट बनाने की तो मैं उससे कहता ही क्या।

उसकी बात 'घबराया मत करो' का मेरे ऊपर कोई असर नहीं था। मेरी जेब से अढ़ाई गुना किराया निकल चुका था। सरकारी कोष के पल्ले एक पैसा भी नहीं पड़ा था। मैं विदआउट का विदआउट गेट की ओर सरक रहा था। गेट पर रोक लिये जाने का डर अभी भी बना था। मैं मन ही मन कभी बगैर टिकट यात्रा न करने की कसमें खा रहा था।

विचार त्याग कर मैं गाड़ी की ओर लपका। बीच में एक डिब्बे में मुझे टी.टी.ई. इत्यादि बैठे दिखाई दिये। मैं उस डिब्बे में जा चढ़ा और टी.टी.ई. को सारी बात बता दी। टी.टी.ई. ने मुझे बताया कि आपको खिड़की की ओर भाग कर जाते हुए मैंने देख लिया था। मैं चाहता तो आपको उसी समय पकड़ सकता था।

मैंने सोचा—अब यह तो अपनी धौंस जमाएगा ही। वास्तव में मुझे टिकट कटाने की न सोच कर टी.टी.ई. को ढूंढने की बात ही सोचनी चाहिये थी। टिकट कटा कर मैं चालाक बनना चाहता था। नतीजा मेरे सामने था।

टी.टी.ई. से मैंने कहा कि मैंने कभी बेटिकट यात्रा नहीं की, उल्टा इस सबके मैं तो बहुत खिलाफ हूं। अब आप मेहरबानी करके मेरा टिकट बना दीजिये।

मैंने टी.टी.ई. को दस का नोट पकड़ा दिया। उन दिनों पीलीबंगा से हनुमानगढ़ के दो रुपये लगते थे। दो रुपये उस समय मेरी जेब में छुट्टे नहीं थे, इसलिए दस का नोट ही पकड़ाना पड़ा।

टी.टी.ई. ने नोट अपनी जेब के हवाले किया और मुझसे कह दिया—'टिकट आगे चल कर ही बना देंगे।'

अब मैं भला उससे क्या कहता। मैं अगर टिकट के लिये ज्यादा जोर देता तो वह मुझे पेनल्टी भरने के लिये भी कह सकता था।

इसलिये मैं सारा गम पीकर चुपचाप अपने डिब्बे में चला आया। अब मुझे दो-दो गम लग चुके थे। टिकट न होने का गम तो था ही, दस रुपये चले जाने का गम और लग गया। मैं सोच रहा था—अब टी.टी.ई. बकाया पैसे मुझे नहीं देगा, उल्टा कहेगा—आपको थोड़े में छोड़ रहा हूं। ग्यारह गुना लगाऊं तो बाईस रुपये बनते हैं।

हनुमानगढ़ स्टेशन पर चैकिंग आई हुई होगी तो कौन मुझ पर विश्वास करेगा कि मैंने टी.टी.ई. को पैसे दे रखे हैं।

ऐसे मौकों पर ये भी साफ मना कर जाते हैं। इसी तरह की चिन्ता

में डूबे हम हनुमानगढ जक्शन के आउटर पर जा पहुचे। सिगनल न होने के कारण गाडी खडी हो चुकी थी। कई विद्आउट टिकट और कई जिनका घर निकट पड़ता था उतरने लगे। मेरे लिये भी सुनहरी मौका था, लेकिन मैं तो टी टी ई को दस रुपये सौंप कर फसा बैठा था। एक-दो बार तो जी कसमसाया कि छोड़ दू बकाया का मोह और उतर पड़ू यहीं, इसी वक्त, लेकिन बेडिंग वगैरह का भार था। दूर आउटर के पास लाइनों पर कोई रिक्शा मिलने के आसार भी नहीं थे। आउटर से स्टेशन तो काफी दूर होना ही है, इसलिए मैं मन मार कर बैठा रहा।

सिगनल होने पर गाडी चली। स्टेशन पर पहुची। मैंने टी टी ई को तलाशा। उसने मुझे पाच रुपये पकड़ाते हुए कहा—'कभी टिकट न ले सको तो इतने घबराया न करो।'

पांच रुपये जेब मे डालते हुए मैंने सोचा—जाने चोर की मगोरी ही सही। टिकट-विकट बनाने की तो मैं उससे कहता ही क्या।

उसकी बात 'घबराया मत करो' का मेरे ऊपर कोई असर नहीं था। मेरी जेब से अढ़ाई गुना किराया निकल चुका था। सरकारी कोष के पल्ले एक पैसा भी नहीं पडा था। मैं विदआउट का विदआउट गेट की ओर सरक रहा था। गेट पर रोक लिये जाने का डर अभी भी बना था। मै मन ही मन कभी बगैर टिकट यात्रा न करने की कसमें खा रहा था।

असंतोष के कारण ही राष्ट्र की एकता को खतरा पैदा होता है।

गैर-बराबरी ने राष्ट्रीय एकता पर दो तरफ मार की है। एक तो जो लोग शोषित थे, बेकार थे, उनके मन में राष्ट्र के विरुद्ध बगावत करने का विचार आया, दूसरा जो लोग ऊंचे तबके के थे और राजनीति में थे वे असंतुष्टों की इस भावना को अपने हक में भुनाने की स्थिति में थे, उन्होंने शोषितों के असंतोष को हवा दी।

आज जो पंजाब में हालात बने हैं वे इसी गैर-बराबरी के कारण बने हैं। पंजाब में बड़े-बड़े जमींदार थे। अपनी राजनीति चलाने के लिए उनके पास खूब पैसा और फुर्सत थी। दूसरी ओर बेकार और शोषित नौजवान थे। इन बड़े भूपतियों ने इन बेकार नौजवानों का इस्तेमाल किया। अगर समाज में बराबरी होती तो ये बड़े अपनी राजनीति चलाने में सफल न होते। इनसे छीनी गयी जमीन-जायदाद गरीबों को भी भड़कने न देती।

ये हालात सिर्फ पंजाब में ही नहीं हैं। प्रत्येक राज्य में हैं। बिहार में जितना खून-खराबा हो रहा है, वह सब गैर-बराबरी का ही परिणाम है। किसी के पास तो इतना पैसा और फुर्सत है कि वह दिन-रात राजनीति में लगा रहता है, जबकि किसी के लिए एक दिन का वक्त भी राजनीति के लिए निकालना मुश्किल हो जाता है। अगर देश में बराबरी हो तो राजनीति में पैसे वाले ही लोग न आएं, वे भी आएं जो प्रतिभा रखते हैं।

राष्ट्रीय एकता और देश की प्रत्येक समस्या के लिए गैर-बराबरी जिम्मेवार है।

# राष्ट्रीय एकता और बराबरी

आज राष्ट्रीय एकता हमारे लिए सर्वोपरि हो गयी है। हम यह गहराई से महसूस करने लगे हैं कि राष्ट्र है तो हम हैं, इसलिए चारो ओर राष्ट्रीय एकता का स्वर सुनाई देने लगा है। विपक्ष के लोग भी ईमानदारीपूर्वक राष्ट्रीय एकता की जरूरत महसूस करने लगे हैं। अब हमें देखना है कि इतना कुछ होने पर भी राष्ट्र एक क्यो नही हो रहा है?

वैसे तो हमारी धरती पर जिस थाली मे खाए उसी मे छेद करने का मुहावरा प्रचलित है, लेकिन फिर भी हम इतने लापरवाह नहीं हैं कि अपनी थाली में ही छेद कर दें। छेद हम उसी थाली मे करते हैं जब हमे वह दूसरे की लगती है। इसलिए जरूरी है कि इस देश मे रहने वाले प्रत्येक नागरिक को यह देश अपना देश लगे।

प्रत्येक नागरिक को यह अनुभूति कराने के लिए जरूरी है कि उसे सही मायने मे सभी प्रकार की समानताएं हासिल हो। क्या आज देश के प्रत्येक नागरिक को प्रत्येक क्षेत्र में बराबरी हासिल है? इसका उत्तर नाकारात्मक है। आज सविधान के सामने तो प्रत्येक नागरिक बराबर है, लेकिन वास्तविकता में प्रत्येक नागरिक बराबर नही है। सविधान के अनुसार तो प्रत्येक नागरिक को चुनाव लड़ने की स्वतत्रता है, लेकिन आज की स्थितियो में क्या कोई कमजोर आर्थिक स्थिति वाला प्रतिभावान व्यक्ति चुनाव लड़ सकता है? चुनाव लड़ना तो दूर, कोई चुनाव लड़ने का सपना भी नही देख सकता। और तो और, लोगों को सामाजिक बराबरी भी नहीं मिली है। ऐसी बातों से असंतोष पैदा होता है। [illegible]

असंतोष के कारण ही राष्ट्र की एकता को खतरा पैदा होता है।

गैर-बराबरी ने राष्ट्रीय एकता पर दो तरफ मार की है। एक तो जो लोग शोषित थे, बेकार थे, उनके मन में राष्ट्र के विरुद्ध बगावत करने का विचार आया, दूसरा जो लोग ऊंचे तबके के थे और राजनीति में थे वे असंतुष्टों की इस भावना को अपने हक में भुनाने की स्थिति में थे, उन्होंने शोषितों के असंतोष को हवा दी।

आज जो पंजाब मे हालात बने हैं वे इसी गैर-बराबरी के कारण बने हैं। पंजाब मे बड़े-बड़े जमींदार थे। अपनी राजनीति चलाने के लिए उनके पास खूब पैसा और फुर्सत थी। दूसरी ओर बेकार और शोषित नौजवान थे। इन बड़े भूपतियों ने इन बेकार नौजवानों का इस्तेमाल किया। अगर समाज मे बराबरी होती तो ये बड़े अपनी राजनीति चलाने मे सफल न होते। इनसे छीनी गयी जमीन-जायदाद गरीबों को भी भड़कने न देती।

ये हालात सिर्फ पंजाब मे ही नहीं हैं। प्रत्येक राज्य में हैं। बिहार मे जितना खून-खराबा हो रहा है, वह सब गैर-बराबरी का ही परिणाम है। किसी के पास तो इतना पैसा और फुर्सत है कि वह दिन-रात राजनीति मे लगा रहता है, जबकि किसी के लिए एक दिन का वक्त भी राजनीति के लिए निकालना मुश्किल हो जाता है। अगर देश मे बराबरी हो तो राजनीति मे पैसे वाले ही लोग न आएं, वे भी आए जो प्रतिभा रखते हैं।

राष्ट्रीय एकता और देश की प्रत्येक समस्या के लिए गैर-बराबरी जिम्मेवार है।

है कि जो विषय जीवन के अधिक निकट है और सरल हैं वे उप
पड़े है, जैसे आयुर्वेद, उद्योग-धन्धे इत्यादि।

शिक्षा मानव के लिए है न कि मानव शिक्षा के लिए। शिक्षा मा
की आवश्यकताओं और क्षमता के अनुरूप होनी चाहिये। हम तो
बालक पर भी तीन-तीन भाषाओं और चार-चार अन्य विषयों का
बोझ देते हैं जिसे सिर्फ आवश्यकता होती है अपनी मातृ भाषा के
की और थोड़े से जोड़, गुणा, घटाओ, भाग के ज्ञान की। हम तो
बुद्धि के बालक और तीव्र बुद्धि के बालक के भार में भी कोई अ
नहीं रखते। हम डरते हैं कि यदि भार किसी पर कम और किसी
ज्यादा कर दिया गया तो शिक्षा से समाज में असमानता आ जाये
लेकिन यह समानता रह कहां पाती है? यह समानता अधिक खतर
सिद्ध हो रही है। मन्द बुद्धि के बालक जो इतना भार सहन नहीं
पाते शिक्षा से विमुख हो जाते हैं। स्कूल छोड जाते हैं। हमें चाहिये
हम थोड़ा भले ही सिखायें, लेकिन बालकों पर इतना बोझ न लादें
वे स्कूल ही छोड दें।

शिक्षा को रोजगारोन्मुख करके भी हम ज्ञान की इस गुरुता को
सकते हैं और इसे सरस और जीवन के निकट बना सकते हैं, लेि
यह सब करे कौन? यहां आकर अन्धेरा छा जाता है। राजस्थानी में
कहावत है कि 'कुत्ते के पाव कुण खोवथ', अर्थात कुत्ते की खुजली
उपचार कौन करे? बस यही मामला शिक्षा के सुधार के सदर्भ में सम
है। सभी लोग क्या शिक्षक, क्या नेता और क्या पत्रकार एक ही
कह रहे हैं कि शिक्षा में सुधार होना चाहिये, लेकिन फिर भी कहीं
शुरुआत नहीं हो रही है। शिक्षक अपना कोर्स पूरा कराने में व्यस्त
नेता सुधारों के बारे में भाषण देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ले
है और पत्रकार सम्पादकीय लिख कर। पिट रहा है बेचारा भो
विद्यार्थी, विशेष करके गरीब घर का विद्यार्थी। उसे अपने भले-बुरे
ज्ञान भी कहां है? उसकी स्थिति तो खाज वाले कुत्ते की सी है।

# शिक्षा में परिवर्तन कौन करे?

पहली से पांचवी, फिर आठवीं, दसवी और फिर बी. ए. कितना कुछ पढ़ा था। हिन्दी, पंजाबी, अंग्रेजी, सामाजिक, साईन्स, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, अंक गणित, बीज गणित, रेखा गणित, व्याकरण और न जाने क्या-क्या? पूरा याद भी नहीं, जबकि कभी यह रटा हुआ था। इन्हीं चीजों को अब पढ़ाना पड़ता है तो पढ़ना पड़ता है। तभी मन में प्रश्न उठता है कि उस सबको पढ़कर और रट कर हमने क्या कमाया? सिर्फ एक अंक तालिका।

यह ठीक है कि यह चाबी है ज्ञान के शेष भण्डार की, लेकिन कितने लोग हैं जो इस चाबी से ताले खोल रहे हैं? अधिक लोग तो इसे हाथ में लिए सिर्फ घूम रहे हैं।

इसके साथ ही प्रश्न उठता है कि जब चौदह-सोलह साल तक पढ़ाई-रूपी व्यवसाय में पूरी तरह व्यस्त रहने के उपरान्त सिर्फ एक सर्टीफिकेट ही हाथ लगता है तो हम अपनी सन्तानों को क्यों इस घटिया व्यवसाय में झोंक रहे हैं? जब इतना कुछ याद नहीं रखा जा सकता तो उसे पढ़ाने और रटाने का क्या फायदा? उल्टा मानव की क्षमताओं का अप-व्यय ही तो है। हो सकता है, अगर हम उनकी क्षमता का अपव्यय इस संदर्भ में न करें, तो वह अपना विकास अन्य संदर्भ में और भी अच्छा कर सके।

लेकिन अफसोस! इस ज्ञान रूपी कबाड़िये के कबाड़खाने में दिनों-दिन बढ़ोतरी हो रही है और इससे भी ज्यादा अफसोस इस बात का

बेचारे के उसके बस में भी क्या है ?

उसके बस में तो यही है कि स्कूल छोड़ दे और वही हो रहा है। जिस गरीब बाप का बेटा एक गधे के भार की किताबें नही खरीद सकता और देखता है कि इन किताबो को पढ़कर भी सिर्फ एक थंक तालिका ही हाथ लगेगी, रोटी नही, तो वह स्कूल छोड़ देता है।

भारत में आज अधिकाश वही लोग शिक्षा प्राप्त कर रहे है जिनके पास पैसा है। भूल से पिछले सालों मे गरीब घरों के जो बालक पढ गए वो पछता रहे हैं। उन्हे नौकरी मिली नही और वे पैतृक धंधा करने से भी रह गए। इन पश्चाताप करते लोगों को देखकर सर्वहारा वर्ग शिक्षा से विमुख होता जा रहा है। अन्य कारण भी है। इस वर्ग के बहुत कम बच्चे स्वाद चखने के लिए एक-दो साल स्कूल जाते हैं, फिर छोड़ देते हैं। ज्यादा से ज्यादा इसके साथ कोई चल सकता है तो वह माध्यमिक स्तर तक चल सकता है। विश्वविद्यालय मे तो केवल बडे-बड़े पूंजीपतियो के और भूपतियो के बेटे ही जा पाते है और यह शिक्षा उनके अनुरूप भी बैठ जाती है। उन्हे अच्छी नौकरी मिल भी जाती है और न भी मिले तो क्या है ? घर पर खाली बैठ कर खाने के लिए भी बहुत कुछ मिल जाता है उन्हे।

गाधी जी के बाद अपने देश मे कोई ऐसा आदमी नही हुआ जो शिक्षा पर चितन करे और उसे कोई दिशा दे सके। दिशा भी ऐसी जो प्रत्येक भारतीय के हित मे हो। आजाद भारत मे आज तक जितने नेता हुए उन सबको कुर्सी का ही फिकर खाता रहा है। उनके पास शिक्षा के लिए समय ही नही।

कुर्सी का यह चक्कर इतना टेढ़ा है कि इस चक्कर में पड़कर एक राजनेता तो सिचाई मंत्री बन जाता है और एक अनपढ़ किसान ी बन जाता है। सुधार भी हो तो कैसे ? हमारे राजनेताओं में तिक उत्साह नही है कि वे शिक्षा के परिवर्तन मे कुछ कर सकें। ् काम बड़े पुण्य और यश का है। वे भी ऐसा महसूस करने

# दहेज

कुछ लोग तो दहेज के पक्ष मे दलील देते हैं कि बेटी का बाप की सम्पत्ति मे हिस्सा होता है, लेकिन बाप की सम्पत्ति मे बेटी का हिस्सा सुनिश्चित नहीं होते, ससुर की सम्पत्ति मे भी तो बहू का हिस्सा निश्चित कर सकते थे। कानून ने बाप की सम्पत्ति मे बेटी का हिस्सा तय कर दहेज को एक तरह से कानूनी मान्यता प्रदान कर दी गयी है, जो कि गलत है।

बेटे के पीछे बेटी वाले से धन लाना मुफ्तखोरी है। गम्भीरतापूर्वक सोचा जाए तो यह अति घिनौना कार्य है। इसे हम घूस का नाम भी दे सकते हैं। मुफ्त के माल को वह आदमी हाथ लगाएगा जिसकी आत्मा मरी हुई होगी। जिसे अपने बाहुबल पर विश्वास होगा, वह ऐसी हरकत कदापि नहीं करेगा। जरा सोचें जब हम बेटी वाले के घर से बेटी के साथ बड़ी-बड़ी सन्दूकें अलमारियां सोफा सेट, टी वी , डबल बैड और नोटों की गड्डियां उठा रहे होते हैं, तो बेटी के बाप पर क्या गुजर रही होती है ?

क्या वह इतना कुछ खुशी-खुशी कर रहा होता है ? कदापि नहीं। अगर खुशी-खुशी करता तो बेटी के जन्म लेने पर घर मे मातम का सा सन्नाटा न छाता। बेटे के जन्म लेने पर बधाइयां न बांटी जातीं। वह यह सब दबाव मे आकर करता है। यह दबाव समधी और बिरादरी दोनों का ही हो सकता है।

दहेज जैसी बुराई समाज ने ही पैदा की है और समाज ही इसे मिटा सकता है। इसे मिटाने मे न किसी को नफा होगा और न किसी को नुकसान। कोई दहेज लेगा नहीं तो उसे दहेज देना भी नहीं पड़ेगा। जो आदमी कहता है कि मेरे तो लड़के ही लड़के हैं उसे यह सोच कर संतोष कर लेना चाहिये कि मेरे लड़की नहीं तो क्या, मेरे लड़कों के तो लड़कियां हो सकती हैं और उन्हें तो दहेज देना पड़ सकता है। गम्भीरता-पूर्वक सोचें तो कुछ फर्क नहीं पड़ेगा। जरूरत एक धारा को विपरीत

दिशा मे मोड़ देने की है। इस बदलाव के लिये रुपये-पैसे की भी जरूरत नही, बस थोड़ी सी सोच मे बदलाव लाने की जरूरत है। फिर दहेज के कारण जो समाज मे बुराइयां आ गयी हैं, सब मिट जायेंगी।

लोगों की सोच बदलने मे समाज के प्रबुद्ध लोग महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। प्रबुद्ध वर्ग द्वारा गांव-गांव मे और नगर-नगर मे दहेज प्रथा उन्मूलन समितियों का गठन किया जाना चाहिये। ऐसी समितियां स्मारिका इत्यादि प्रकाशित करके और लोगो को समझा-बुझा कर दहेज-विरोधी मानसिकता तैयार कर सकती हैं। यह वर्ग स्वयं को मिसाल के तौर पर पेश करे। न दहेज ले और न दहेज दे। दूसरी जाति में विवाह, प्रेम विवाह, सामूहिक विवाह इत्यादि को बढ़ावा दे।

सरकारी प्रचार माध्यमो का लोगों पर कम असर होता है। अपने ही बीच के लोग जब किसी चीज का विरोध करने लगते हैं तो उसका असर लोगों पर अधिक होता है।

कुछ लोगों का मानना है कि जब तक सरकार दहेज को सख्ती से नहीं मिटायेगी, यह नहीं मिटेगा या कि जब तक देश में पूंजीवादी व्यवस्था है यह नहीं मिटेगा। उनके जवाब में यही कहा जा सकता है कि [illegible] विदेशी हुकूमत के दौरान भी इस देश में कई [illegible] के कार्य हुए हैं। सती प्रथा का बंद होना इसका उदाहरण [illegible]. सरकार चाहे कैसी भी हो समाज सुधार का कार्य हो [illegible] किसी भी कार्य के लिये सरकार को दोष देना [illegible] [illegible] है।

# सपना एक राजनीतिक पार्टी का

जब वोट के द्वारा क्रांति आ सकती है तो खून-खराबे की क्या आवश्यकता है? इस बात को ध्यान में रख कर मैंने महसूस किया है कि लोकतंत्र बहुत अच्छी व्यवस्था है, लेकिन स्वार्थी वृत्ति के लोगों ने इसका हुलिया बिगाड़ रखा है।

वर्तमान में अपने देश में जितने भी राजनीतिक दल हैं उन सबमें अमीर लोग सत्ता भोगने के लिए घुसे हुए हैं। इन अमीरों का काम गरीबों को गरीबी मिटाने का झांसा देना और वोट बटोर कर सत्ता भोगते रहना है। इससे ज्यादा कुछ नहीं।

मेरी मान्यता है कि अमीर वर्ग का आदमी कभी भी गरीब वर्ग के लिए अपने अधिकार नहीं छोड़ेगा। अमीरों के अपने अधिकार छोड़े बिना गरीबी मिटेगी नहीं। दूसरे-तीसरे दर्जे के प्रयासों से किसी तरह से गरीबों की हालत कुछ सुधारी जा सकती है, लेकिन यह मामूली सी हालत का सुधरना बिना समानता के कोई मायना नहीं रखता। बिना बराबरी के अमीर वर्ग सदा अपना दमन-चक्र चलाता रहेगा।

अमीरों में जन्म लेकर भी कोई आदमी गरीबों के लिए कुछ कर सकता है, ऐसा सैकड़ों सालों में एक आधे बार हुआ है। करोड़ों मनुष्यों में एक-आध मनुष्य ऐसा निकलता है। लेकिन गरीबों में जन्म लेकर गरीबों के लिए कुछ न कुछ करने वाले बहुत लोगों को देखा जा सकता है।

इन सब बातों को मद्देनजर रखते हुए मैं कहीं-कहीं सोचता हूँ कि गरीब वर्ग की अपनी एक राजनीतिक पार्टी होनी चाहिए जिसकी

दिशा मे मोड़ देने की है। इस बदलाव के लिये रुपये-पैसे की भी जरूरत नही, बस थोड़ी सी सोच मे बदलाव लाने की जरूरत है। फिर दहेज के कारण जो समाज में बुराइया आ गयी हैं, सब मिट जायेंगी।

लोगों की सोच बदलने मे समाज के प्रबुद्ध लोग महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। प्रबुद्ध वर्ग द्वारा गाव-गांव मे और नगर-नगर में दहेज प्रथा उन्मूलन समितियों का गठन किया जाना चाहिये। ऐसी समितिया स्मारिका इत्यादि प्रकाशित करके और लोगों को समझा-बुझा कर दहेज-विरोधी मानसिकता तैयार कर सकती हैं। यह वर्ग स्वयं को मिसाल के तौर पर पेश करे। न दहेज ले और न दहेज दे। दूसरी जाति में विवाह, प्रेम विवाह, सामूहिक विवाह इत्यादि को बढावा दे।

सरकारी प्रचार माध्यमो का लोगो पर कम असर होता है। अपने ही बीच के लोग जब किसी चीज का विरोध करने लगते हैं तो उसका असर लोगो पर अधिक होता है।

कुछ लोगो का मानना है कि जब तक सरकार दहेज को सख्ती से नही मिटायेगी, यह नही मिटेगा या कि जब तक देश मे पूंजीवादी व्यवस्था है यह नही मिटेगा। उनके जवाब में यही कहा जा सकता है कि साम्राज्यवादी विदेशी हुकूमत के दौरान भी इस देश मे कई सामाजिक सुधार के कार्य हुए हैं। सती प्रथा का बंद होना इसका उदाहरण है। इसलिए सरकार चाहे कैसी भी हो समाज सुधार का कार्य हो सकता है। फिर किसी भी कार्य के लिये सरकार को बाध्य करने वाले भी हमी हो सकते हैं।

# सपना एक राजनीतिक पार्टी का

# गुलाब और कन्या

विशेषता थोड़े शब्दो में निम्न प्रकार से हो सकती है...गरीबो की गरीबो द्वारा/गरीबो के लिये।

इस पार्टी मे उन लोगो को ही शामिल किया जावे जिनकी सालाना आय पन्द्रह-बीस हजार से ज्यादा न हो, ताकि कोई अमीर इस पार्टी में न घुस पाये। गरीबो मे वर्ग चेतना के साथ-साथ राजनीतिक चेतना पैदा की जाये जिससे वे पार्टी के सगठन मे सहयोग दें। जहा तक मै समझता हू गरीबी के आधार पर खडी की गई इस पार्टी को ज्यादा पैसे की जरूरत नही होगी, बहुमत के कारण इसकी जीत तो निश्चित है ही।

पिछडी जातियो और अनुसूचित जातियो को लेकर कई राजनीतिक पार्टिया खडी की गई हैं। चूकि वे निम्न जाति की पार्टिया हैं, इसलिए वे गरीबो की पार्टी होने का भ्रम पैदा कर सकती हैं। निम्न जातियो के लोगो को आकर्षित भी, लेकिन उनका उद्देश्य भी इन जातियो को प्रतिष्ठा का दर्जा दिलाना भर है। प्रत्येक जाति मे आपको अमीर आदमी मिल जाएगा जो अपनी जाति के गरीब [illegible] खूब खुल कर शोषण करता है। इस प्रकार जाति के आधार [illegible] पार्टिया अगर सफल हो भी जाती है तो इन [illegible] की [illegible] [illegible]ष्टा पाएगी। उनके गरीबो की ग[illegible] मिटे[illegible] [illegible] नही आ पाएगी। फिर जाति [illegible] की भावना भी [illegible]

विशेषता थोड़े शब्दों में निम्न प्रकार से हो सकती है...गरीबों की/गरीबों द्वारा/गरीबों के लिये।

इस पार्टी में उन लोगों को ही शामिल किया जावे जिनकी सालाना आय पन्द्रह-बीस हजार से ज्यादा न हो, ताकि कोई अमीर इस पार्टी में न घुस पाये। गरीबों में वर्ग चेतना के साथ-साथ राजनीतिक चेतना पैदा की जाये जिससे वे पार्टी के संगठन में सहयोग दें। जहां तक मैं समझता हूं गरीबी के आधार पर खड़ी की गई इस पार्टी को ज्यादा पैसे की जरूरत नहीं होगी, बहुमत के कारण इसकी जीत तो निश्चित है ही।

पिछड़ी जातियों और अनुसूचित जातियों को लेकर कई राजनीतिक पार्टियां खड़ी की गई हैं। चूंकि वे निम्न जाति की पार्टियां हैं, इसलिए वे गरीबों की पार्टी होने का भ्रम पैदा कर सकती हैं। निम्न जातियों के लोगों को आकर्षित भी, लेकिन उनका उद्देश्य भी इन जातियों की प्रतिष्ठा या दर्जा दिलाना भर है। प्रत्येक जाति में आपको अमीर आदमी मिल जाएगा जो अपनी जाति के गरीब व्यक्ति का खूब खुल कर शोषण करता है। इस प्रकार जाति के आधार पर खड़ी ये पार्टियां अगर सफल हो भी जाती हैं तो इन जातियों की सामाजिक प्रतिष्ठा ही बढ़ पाएगी। उनके गरीबों की गरीबी नहीं मिटेगी या समाज में बराबरी नहीं आ पाएगी। फिर जाति के आधार पर खड़ी पार्टी से साम्प्रदायिकता की भावना भी बढ़ेगी जो हर हाल में खराबी करेगी।

भूमि और अन्य साधन कम और जनसंख्या ज्यादा बता कर अमीर वर्ग यह भ्रम पैदा करता रहता है कि इस देश की गरीबी दूर हो ही नहीं सकती। वह तो ऐसा इसलिए करता है कि गरीब उत्साहित न हो और कोई प्रयास न करे, ताकि उसके अधिकार [illegible]

अकेले कृषि क्षेत्र को ही लें। कितने ही [illegible]
काम नहीं करते। इस प्रकार बुवाई-कटाई [illegible]
पाता। मौसम इत्यादि के [illegible]
जाता है। बेजमीनों को [illegible]

विशेषता थोड़े शब्दों में निम्न प्रकार से हो सकती है...गरीबों की/गरीबों द्वारा/गरीबों के लिए।

इस पार्टी में उन लोगों को ही शामिल किया जाये जिनकी सालाना आय पन्द्रह बीस हजार से ज्यादा न हो, ताकि कोई अमीर इस पार्टी में न घुस पाये। गरीबों में वर्ग चेतना के साथ-साथ राजनीतिक चेतना पैदा की जाये जिससे वे पार्टी के संगठन में सहयोग दें। जहां तक मैं समझता हूं गरीबी के आधार पर खड़ी की गई इस पार्टी को ज्यादा पैसे की जरूरत नहीं होगी बहुमत के कारण इसकी जीत तो निश्चित है ही।

पिछड़ी जातियों और अनुसूचित जातियों को लेकर कई राजनीतिक पार्टियां खड़ी की गई हैं। चूंकि वे निम्न जातियों की पार्टियां हैं, इसलिए वे गरीबों की पार्टी होने का भ्रम पैदा कर सकती हैं। निम्न जातियों के लोगों को आकर्षित भी, लेकिन उनका उद्देश्य भी इन जातियों को प्रतिष्ठा या दर्जा दिलाना भर है। प्रत्येक जाति में आपको अमीर आदमी मिल जाएगा जो अपनी जाति के गरीब व्यक्ति का खूब खुल कर शोषण करता है। इस प्रकार जाति के आधार पर खड़ी ये पार्टियां अगर सफल हो भी जाती हैं तो इन जातियों की सामाजिक प्रतिष्ठा ही बढ़ पाएगी। उनके गरीबों की गरीबी नहीं मिटेगी या समाज में बराबरी नहीं आ पाएगी। फिर जाति के आधार पर खड़ी पार्टी से साम्प्रदायिकता की भावना भी बढ़ेगी जो हर हाल में खराबी करेगी।

भूमि और अन्य साधन कम और जनसंख्या ज्यादा बता कर अमीर वर्ग यह भ्रम पैदा करता रहता है कि इस देश की गरीबी दूर हो ही नहीं सकती। वह तो ऐसा इसलिए करता है कि गरीब उत्साहित न हों और कोई प्रयास न करे, ताकि उसके अधिकारों पर कुठाराघात न हो।

अकेले कृषि क्षेत्र को ही लें। कितने ही भूपति ऐसे हैं जो खेतों में काम नहीं करते। इस प्रकार बुवाई-कटाई का काम समय पर नहीं हो पाता। मौसम इत्यादि के खराब होने के कारण यह घाटा और भी बढ़ जाता है। बेजमीनों को जमीन देकर उन भूपतियों को भी काम में लगा

# गुलाब और कन्या

कुछ दिन पहले मैंने आंगन के एक गमले में गुलाब की कलम लगाई थी। आज वह फूट चुकी है। मुझे बड़ी खुशी हो रही है—गुलाब का पौधा बड़ा होगा। बसन्त आते-आते इसमें लाल-लाल फूल लगेंगे। मैं बच्चों को फूल न तोड़ने की हिदायतें दूंगा। साथ ही, यह संकल्प कर रहा हूं कि अब गमले में नित्य-प्रति पानी डाला करूंगा। बच्चे कहीं अभी ही नवजात पौधे को उखाड़ न दें, इसलिए गमले को किसी सुरक्षित स्थान पर रखने की भी सोच रहा हूं।

इसके साथ-साथ मुझे मेरी नवजात बच्ची की भी याद आ गयी है। मैं सोचता हूं—मुझे इतनी खुशी उस दिन क्यों नहीं हुई जिस दिन बच्ची ने जन्म लिया था? बच्ची के जन्म लेते ही मैंने उसके हंसने-खेलने की कल्पना क्यों नहीं की? मैंने उसे अच्छी तरह से पालने-पोसने का संकल्प क्यों नहीं लिया? एक गुलाब का पौधा कन्या से अच्छा कैसे हो गया, जबकि दोनों ही संसार में सौंदर्य और खुशियां लुटाते हैं।

सभी बाप ऐसे न होते होंगे, लेकिन मैं तो ऐसा ही महसूस कर रहा हूं। सच्चाई को स्वीकारने में कैसी शर्म? मैं उस दहेज से नहीं डरता जो डोली उठाने के लिये जुटाना पड़ेगा। आज से ही जोड़ने लग जाऊं तो कम से कम इतना तो जोड़ ही सकता हूं जिसके सहारे मेरी बेटी छोटे-बड़े घर में प्रवेश पा ही जाएगी। मैं डरता तो इस बात से हूं कि दहेज भी दे दूंगा, फिर भी बेटी के सुखी रहने की गारन्टी नहीं होगी। सास-बहू के झगड़े हैं। पति-पत्नी के झगड़े हैं। न जाने कब पति मेरी

# गांवों को जाने वाली बसें

वैसे तो एक शहर से दूसरे शहर जाने वाली सभी बसें गांवों से होकर गुजरती हैं, लेकिन यहा मैं सिर्फ उन्ही बसों की बात कर रहा हू जो चलती तो जरूर किसी शहर या कस्बे से ही हैं, लेकिन पहुचती हैं सिर्फ गावो मे ही। मेरे दफ्तर की खिडकी के सामने ऐसी ही बसों का अड्डा है। रोज देखता हू—बस मे बैठी सवारियां घण्टो तक बस चलने का इन्तजार करती रहती हैं। सवारिया कम नही, सारी बस ऊपर-नीचे से फुल भरी होती है। कुछ तो पायदानों और छत की सीढ़ियों पर लटके खडे रहते हैं।

राजकीय उच्च मार्गों पर तेज गति वाली एक्सप्रेस बसों में सफर करने वाले हम सहज ही इन गावो मे जाने वाली बसों की सवारियों की तकलीफ का अनुमान कर सकते हैं। हमारी एक्सप्रेस बस जब कभी बेमतलब कही थोड़ी सी देर के लिए भी रुक जाती है या हमें किसी शहर के बस अड्डे पर आगे जाने वाली बस तुरत नहीं मिलती तो हमें कितनी तकलीफ होती है। एक-एक क्षण हमारा एक-एक बूंद रक्त सोख लेता है।

यहा आप यह न सोचें कि काम तो सिर्फ कस्बे और नगर के आदमियों के ही होते हैं। गांव का आदमी तो खाली बैठे रहने का आदी है। गांव मे जल्दी पहुच कर उसे करना भी क्या है।

आज आप गांव में जाएंगे तो पहले की तरह आदमी को खाली को चौपाल से नहर की दुकान में पान [illegible] कम ही पाएंगे। [illegible] आप